ज्ञान ज्योति
ॐ

अज्ञश

लेखक :

स्वामी निरंजन

प्रकाशक :

निरंजन बुक् ट्रष्ट

प्रथम मुद्रण :

गुरु पूर्णिमा -२००१

पुस्तक संख्या :

२०००

अक्षर रूपायन :

दिव्य डि.टि.पि. सेण्टर

भुवनेश्वर - २ (उड़िसा)

मुद्रण :

आशीर्वाद प्रकाशन

भुबनेश्वर- १७

मूल्य :

रु ५०/-

Jñana Jyoti

Written by :

Swami Niranjan

Published by :

Niranjan Book Trust

First Edition :

Guru Purnima - 2001

No of Books :

2000

Letter Design :

Divya D.T.P. Centre

Bhubaneswar - 2, (Orissa)

Printed by :

Ashirbad Prakashan

Bhubaneswar - 17

Price :

Rs 50 /-

अनुक्रम

FFF

आपके पास सम्पत्ति का ढेर होगा, फिर भी चित्त अशान्ति से अस्वस्थ होगा । शरीर निरोगी और बलिष्ठ होगा, फिर भी तुम्हारा मन चिन्ताओं से ग्रस्त होगा । कुटुम्ब तुम्हारा विशाल होगा, फिर भी हृदय क्लेश से जल रहा होगा । सत्ता के सिंहासन पर तुम विराजमान होंगे, किन्तु अन्तःकरण काम, क्रोध, लोभ, मोह की दासता में पड़ा दीन बना होगा ।

विचारें ! क्या भला सम्पत्ति, शरीर की सुन्दरता कुटुम्ब एवं सत्ता का उच्च सिंहासन आपको शान्ति देगा ? क्या सम्पत्ति या सत्ता ने किसी के मन को पूर्ण शान्त, तृप्त किया है ? ऐसा आपने कहीं देखा, सुना या पढ़ा है ? तो फिर आप क्यों आँख बन्द कर इस नश्वर दुःख रूप संसार के लिये अज्ञानियों की तरह दौड़ यह देव दुर्लभ मानव जीवन को नष्ट कर रहे हो ?

हे शान्ति पिपासुओं ! यदि आप शान्ति, स्वस्थता और अखण्डानन्द चाहते हो तो उठो, जागो एवं किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ वेदान्त केशरी सद्गुरु की शरण जाकर आत्म ज्ञान प्राप्त करो । आत्म ज्ञान छोड़ अखण्ड शान्ति प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है । इधर-उधर भागते न फिरो । ठहरो एवं संत चरणों में बैठ विचार करो कि तुम कौन हो ?

त्वमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय ।

परमात्मा के सम्बन्ध में स्वात्मा के निश्चय को छोड़ जितनी भी खोज एवं साधना की जावेगी, आपके मन में उतनी ही संशयों की वृद्धि एवं तर्क उदय होते रहेंगे तथा नित्य प्राप्त परमात्मा से विमुखता व दूरी की

भ्रान्ति बढ़ती जावेगी ।

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्ष सिद्ध्यन्ति नान्यथा ।।

- वि.चू. ५८

समाधि में केवल दुःखों का अभाव होता है, सहज सुख की प्राप्ति नहीं होती है, परमानन्द नहीं मिलता । अतः समाधि सुख न मोक्ष है और न मोक्ष का साक्षात् साधन ही है । मोक्ष का साक्षात् साधन तो वेदान्त तत्त्व के श्रवण, मनन, निदिध्यासन के परिणाम स्वरूप उत्पन्न ब्रह्माकार वृत्ति ही है । अर्थात् ब्रह्म से अभिन्न आत्मा का ज्ञान मोक्ष का हेतु है ।

उपासना प्रियतमाकार वृत्ति है । उसमें उपास्य की कृपा से मुक्ति प्राप्त होती है । लेकिन उपासना से प्राप्त मुक्ति जीव को पराधीनता से मुक्त नहीं कर सकेगी । किराये के मकान में कबतक बैठे रहोगे ?

आ ब्रह्म भुवना ल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन
।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।

– गीता ८/१६

ब्रह्मलोक पर्यन्त के सब लोक पुनरावर्ति है अथवा कालान्तर में उन्हें फिर इसी मृत्युलोक में आना पड़ता है । क्योंकि ब्रह्मादि के लोक, काल के द्वारा सीमित होने से अनित्य है, किन्तु आत्मज्ञान को प्राप्त होने वाले ज्ञानी का पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि आत्मा कालातीत है ।

कर्म से जो मुक्ति प्राप्त होगी वह किसान द्वारा प्राप्त फसल की तरह नाशवान ही होगी । कर्म का फल क्षीण होने पर मोक्ष का भी क्षय हो जावेगा ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं ।

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।।

- गीता ९/२१

अर्थात् शुभ कर्म के प्रभाव से वे उस विशाल स्वर्ग लोक में जाते हैं और पुण्य क्षीण होने पर पुनः इस दुःख रूप मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं ।

यह स्वरूप ज्ञान न कर्मांग है, न उपासनांग और न योगा' है । शंकराचार्य कहते हैं :-

वदन्तु शास्त्राणी यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणिभजन्तु देवता ।
आत्मैक्य बोधेन विना विमुक्तिर्न सिद्धयति ब्रह्म शतान्तरेऽपि ।।

धन एवं सम्मान पाने हेतु वेद शास्त्रों की पंक्तियाँ कंठस्थ कर डालें, सुन्दर प्रवचन करने की उत्तम कला प्राप्त करलें । देवताओं की आराधना कर उन्हें सिद्ध करलें । चाहे सारा जीवन शास्त्र एवं लोक समस्त शुभ कर्मों में बितादें, चाहे सम्पूर्ण जीवन इष्ट भजन में व्यतीत करते रहें, चाहे समाधि सिद्ध करें, किन्तु यह सब साधन सत्य आत्मा की अनुभूति एवं मिथ्या जगत् के त्याग, वैराग्य का हेतु नहीं है । उसके लिये ब्रह्मात्मा की एकता का बोध ही एकमात्र साधन है, उसके बिना सौ कल्पों तक अन्य किसी साधन से अखण्डानन्द रूप मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

वैदिक कर्मों के अनुष्ठान तथा वैदिक देवताओं का यजन लौकिक-पारलौकिक सुख के हेतु हो सकते हैं, परन्तु सुख की आसक्ति तथा पराधीनता की निवृत्ति नहीं कर सकते । ब्रह्म आत्मा के प्रति परिच्छिन्नता की भ्रान्ति को ये सब साधन दूर नहीं कर सकते ।

समाधि और इष्ट चिन्तन, विक्षेप और अनिष्ट निवृति कुछ काल के लिये तो कर सकते हैं, परन्तु जीवत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सांसारित्व और परिच्छिन्नता के निवर्तक नहीं है । अतः यह समाधि साधन भी मोक्ष नहीं है ।

न धर्म-कर्म से मोक्ष उत्पन्न होता है, न उपासना से । स्वरूप अज्ञान से जीव को बन्धन है एवं सद्गुरु से प्राप्त आत्मज्ञान से ही मोक्षानुभूति होती है ।

साधक को मोक्ष की जिज्ञासा हो जाना ही चित्त शुद्धि का प्रमाण है । अब उसे लक्ष्य प्राप्ति हेतु कर्म संन्यास की ही आवश्यकता है । कर्म-उपासना को जो प्रयोजन चित्त शुद्धि है वह उसे मुमुक्षुता रूप में प्राप्त हो गया है । किन्तु मोक्ष की सिद्धि बिना आत्मज्ञान केवल करोड़ों कर्मों से भी नहीं हो सकेगी । यह तो मैं कौन हूँ ? ब्रह्म कौन है ? जगत् क्या है ? इन तीन वस्तुओं का विचार करने से ही होगी ।

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तु सिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्म कोटिभिः ॥

- (आचार्य शंकर - वि. चूड़ा - ११)

जो वस्तु बाहर से हमारे भीतर आयेगी, वह एक दिन निकल जावेगी । जो अभी नहीं है वह पैदा होगी और नष्ट हो जावेगी । जो मैं रूप नहीं है वह अन्य होने से मिलजाने पर पुनः बिछुड़ जावेगा । अन्य देश से पकड़ कर लायी गयी वस्तु का वियोग अवश्य ही होगा । अतः कर्म साधन से प्राप्त देश, काल, वस्तु सभी नश्वर ही है । **यत् यत् साध्यम् तत् तत् अनित्यम्**

सर्वधर्मान्परित्यज्व मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा सुचः ॥

- गीता : १८/६६

हे जिज्ञासुओं ! आत्मज्ञान तो परधर्म में से अहं बुद्धि (मैं भाव) छुड़ाने हेतु है । आत्मज्ञान शरीर, प्राण, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण के धर्मों को दूर करने हेतु नहीं है । आत्मज्ञान मनोवृत्तियों को प्रवाहित होने से नहीं रोकता है । प्रत्युत प्रारब्ध से होनेवाली क्रियाओं को होते हुए देखते रहना

सिखता है । अज्ञानियों की तरह समस्त व्यापार उससे होते रहने पर भी उन वृत्तियों से, क्रियाओं से, उससे '**अहं कर्ता**' भावोदय समाप्त करा '**अहं साक्षी**' का बोध कराता है ।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वशञ्जिघ्रन्नश्नाच्छनस्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलयन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नानि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

- गीता : ५/८-९

तत्त्वको जाननेवाला सांख्योगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वांस लेता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों मो बरत रही हैं - इस प्रकार समझकर निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयो ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

- गीता : ३/२८

हे महाबाहो ! गुणविभाग और कर्म विभाग के तत्त्व को जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति
॥

- गीता : १४/१९

जिस समय ज्ञानी पुरुष तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको

कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणेंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघन निज आत्म स्वरूपको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मुक्ति को प्राप्त होता है ।

वह कभी वेदान्ती नहीं हो सकता जो किसी देवता की प्रार्थना पूजा करता हो । अपने से पृथक् देवता, चित्र, मुर्ति, जल, थल, नभ में विश्वास रखता हो और पत्थर, धातु, चित्र, मुर्ति को परमात्मा सिद्ध करने में लगा हो । जो पुण्य-पाप में दबा हो तथा ध्यान, समाधि में फंसा हो, वह मूर्ख तो हाथ में रखे लड्डू का त्याग कर कोहनी चाट पेट भरने का प्रयास कर रहा है जो कभी सम्भव नहीं होगा ।

जब किसी सद्गुरु की शरण ग्रहण कर महावाक्य का विचार करोगे तब तुम अपने प्रत्यक् आत्म-स्वरूप को ही ब्रह्म जानोगे । तब तुम्हारे चित्त में ऐसा स्फुरण होगा कि जिस परम ब्रह्म को हम अपने से पृथक् ढूंढते, पुकारते दुःखी हो रहे थे - वह परब्रह्म मैं ही हूँ, वह अन्य नहीं है । सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मुझ प्रत्यगात्मा के अनुशासन में चल रहा है । मैं ही कीट से ब्रह्मादिक पर्यन्त समस्त रूपों को धारण कर गुरु-शिष्य, जीव-ईश्वर रूप में लीला कर रहा हूँ । जिस ब्रह्म को वेद, श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि नेति-नेति कह कर चुप हो जाते हैं - वह नेति-नेति का साक्षी मैं ही हूँ । ज्योतियों का ज्योति स्वयं ज्योति आत्म ब्रह्म मैं ही हूँ । तुम सब को देखते, जानते, मानते हो; क्योंकि चैतन्य हो । तुम्हारे अतिरिक्त सभी जड़ हैं । इसलिये तुम्हें कोई नहीं जान सकता ।

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ।
विज्ञातारमरे के न विजानीयात् ॥

विचारो ! तुम दुःखी हो या नहीं ? यदि अपने को दुःखी नहीं मानते हो तो तुम्हारे लिये कोई साधन नहीं । यदि लगता है कि तुम दुःखी हो तो किसी सद्गुरु वैद्य द्वारा जन्म-मृत्यु तथा कर्ता-भोक्ता भ्रान्ति

निवारणार्थ तत्त्वज्ञान रूप औषध को श्रद्धा-विश्वास पूर्वक ग्रहण कर शीघ्र स्वस्थता का अनुभव कर जीवनमुक्ति का अनुभव करो ।

जो व्यक्ति निरूपाधिक सत्य को नग्न नहीं, बल्कि अपनी कल्पनासे मूरली, धनुष, त्रिशूल चक्रादि इच्छा की पोशाक पहनाकर देखना चाहता है वह सत्य ज्ञान का अधिकारी नहीं है । वह कर्म- उपासना का ही अधिकारी है । जो मुमुक्षु अपने शुद्ध स्वरूप साक्षात्कार के लिये स्वयं को पंच कोश, तीन शरीर, तीन अवस्था से रहित नग्न होने को तैयार है, वह परम भाग्यशाली ही ज्ञान का अधिकारी है । ब्रह्म का ज्ञान, निराकार का ज्ञान, महाप्रभु का ज्ञान, आत्मा का ज्ञान उसी को होता है जो समस्त आवरण, अहंकार का त्यागकर पूर्ण नग्न हो जाता है । वासना ही बन्धन या वसन है और निर्वासना ही नग्नता या मुक्ति है ।

इस **ज्ञान ज्योति** पुस्तक में जो कुछ भी तत्त्व है वह सब महापुरुषों का प्रसाद एवं कृपा का ही फल है । मैंने तो स्थान-स्थान से पुष्पों को चुन कर एक माली की तरह सुन्दर माला बनाने का ही पुरुषार्थ किया है । अतः जो त्रुटियाँ रह गई है वे सब मेरी ही अल्प बुद्धि का दोष है । अतः कृपालु पाठकगण उसके लिये अपने सुझाव निसंकोच लिख कर भिजवाने की कृपा करें ताकि भविष्य में यदि दूसरी आवृत्ति छपवाने का समय उपस्थित हुआ तो पुस्तक में उचित सुधार कर दिया जावेगा ।

पाठकगण अपने मल-विक्षेप-आवरण दोष से अन्तःकरण को निवृत्त कर निर्मल अन्तःकरण में आत्मानन्द का रसास्वादन करें- यही मेरी हार्दिक प्रार्थना है ।

अतः सभी जिज्ञासुओं से मेरा निवेदन है कि वे इस अमृत रूप **ज्ञानज्योति** ग्रन्थ का किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष के श्रीमुख से ही विधिवत् श्रद्धायुक्त श्रवण करें ।

वेद उदधि बिन गुरु लरवै, लागे लौन समान ।
बादल गुरु मुख द्वार है, अमृत से अधिकान् ।।

इस लघु वेदान्त ग्रन्थ **ज्ञानज्योति** में साधक उन सभी आवश्यक विषयवस्तु को पा सकेंगे जो उसके आत्म निष्ठा को दृढ़ कराने हेतु आवश्यक है । इस ग्रन्थ के स्वाध्याय द्वारा साधक देह संघात् से अंहबुद्धि का त्याग कर अपने साक्षी ब्रह्म स्वरूप में दृढ़ स्थिति प्राप्त करेंगे ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है । यह लघु ग्रन्थ आचार्य श्री शंकर रचित विवेक चूड़ामणी ग्रन्थ का सरल हिन्दी अनुवाद है । नये वेदान्त साधक के सम्यक् ज्ञानोपलब्धि की दृष्टि से ग्रन्थ के शेष में भजगोविन्दम् तथा ब्रह्मज्ञानावली के कुछ अंश को भी छापा गया है । मुझे पूर्ण विश्वास ॆ कि यह ज्ञान ज्योति ग्रन्थ मुमुक्षुओं के लिये सर्वोत्तम होगा ।

निवेदक
आपका अपना ही सेवक
निरंजन

◆◆◆

मंगलाचरणम्

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवोमहेश्वर ।
गुरुरेव जगत् सर्वं तस्मै श्री गुरवे नमः ।।

सूर्य के प्रचण्ड तेज से सन्तप्त पृथ्वी को चन्द्रमा जैसे शीतलता प्रदान कर देता है, उसी तरह जन्म-मृत्यु रूप संसार सागर में डूब रहे, भय से कम्पित हुए शरणागत को अपने ब्रह्मानन्द प्रदायक परम पुनीत परम

शीतल वचानमृत द्वारा सद्गुरु मृत्युभय से रक्षा करते हैं । विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा, उपरामता, समाधानता तथा मुमुक्षुता द्वारा ब्रह्म भाव जाग्रत करा देने के कारण श्री सद्गुरुदेव ब्रह्मा के तुल्य हैं । वे तत्त्वमसि महावाक्य का उपदेश, ग्रन्थ रचना, पत्राचार, प्रेम अथवा क्रोधादि द्वारा उस शरणागत के ब्रह्मभाव का पोषण करते रहने से विष्णु रूप है । तथा जीवत्व, देहत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अज्ञानजनित बन्धभाव को ज्ञानाग्नि द्वारा भस्म कराने में समर्थ होने के कारण श्रीगुरुदेव शंकर स्वरूप ही है । मैं उन श्रीगुरुदेव के चरण कमलों में कोटि-कोटि नमस्कार करता हूँ ।

सर्वश्रुति शिरोरत्न विराजित पदाम्बुजम् ।
वेदान्ताम्बुज मार्तण्ड तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

जिन गुरुओं के चरणार्विन्द की कृपा, समस्त श्रुतियों में शिरोभाग वेदान्त के तात्पर्य सोऽहम्, शिवोऽहम्, अहंब्रह्मास्मि रूप रत्न को शिष्य की बुद्धि में दृढ़ करती है और सूर्य सदृश्य हो कर उसके हृदय में सोऽहम् रूप बुद्धि कमल को पूर्ण रूप से खिलाकर विकसित करती है, उन सद्गुरुदेवों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानांजन शलाकाया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

जिन गुरुओं की कृपा से, अज्ञान रूप अन्धकार से अन्ध मुझ विषयासक्त को बुद्धि रूप चक्षु में तत्त्वमसि रूपी शलाका द्वारा ज्ञान रूपी अन्जन के लगाये जाने से '*सर्वम् खल्विदं ब्रह्म*', '*एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म*', '*नेह नानास्ति किंचन*' - यहाँ एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । ऐसा अद्वैत विषयक ज्ञान चक्षु खुलगया उन सद्गुरुओं को मैं बारम्बार

नमस्कार करता हूँ ।

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्
।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।।

अखण्ड ब्रह्माण्ड के समस्त चराचर जीव, जगत् को आकाश की तरह जिस ब्रह्म द्वारा व्याप्त किया हुआ है, उस ब्रह्म का **अहं ब्रह्मास्मि** रूप से जिन गुरुओं द्वारा मुझे बोध जाग्रत हुआ है, उन सद्गुरुओं को मैं नमस्कार करता हूँ ।

अखण्डानन्द बोधाय शिष्य सन्ताप हारिणे
।
सच्चिदानन्द रूपाय निरंजनाय गुरवे नमः ।।

जो परमात्मा अप्रमेय होते हुए भी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के श्रीमुख से **तत्त्वमसि** आदि वेदान्त महावाक्यों से जाने जाते हैं, जो अज्ञेय हो कर भी सोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि रूप से जिन सद्गुरुदेव की कृपा से अनुभव रूप हो सके हैं । जो जिज्ञासु भक्तों के त्रिताप हरण कर परमशान्ति प्रदान करते हैं उन सच्चिदानन्द स्वरूप सद्गुरुदेव श्री निरंजन जी महाराज को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ ।

◆◆◆

अनुबन्ध चतुष्टय

इस प्रकार गुरु और शिष्य के संवाद रूप से मुमुक्षुओं को सुगमता से स्वरूप-बोध कराने के लिये यह आत्मज्ञान का निरूपण किया गया है । वेदान्त विहित श्रवणादि के द्वारा जिन के चित्त का समस्त दोष निकल गये हैं और जो संसार सुख से विरक्त, शान्त चित्त, श्रुति रहस्य के रसिक और

मोक्ष कामी है, वे मोक्षाभिलाषी इस कल्याणकारी अमृत उपदेश का आदर करें ।

◆◆◆

ग्रन्थ प्रशंसा

संसार मार्ग में नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित मरूस्थल में जल की इच्छा से भटकते हुए मुमुक्षु पुरुषों के अति निकट में ही अद्वितीय ब्रह्म रूप अत्यन्त आनन्द दायक अमृत का समुद्र दिखाने वाला यह ग्रन्थ निरन्तर मुमुक्षुओं का कल्याण करने वाला है । इस **ज्ञान ज्योति** ग्रन्थ का अधिकारी मुमुक्षु पुरुष है, इसका विषय आत्मज्ञान है, ग्रन्थ और विषय का सम्बन्ध निरूप्य-निरूपक है और ग्रन्थ का प्रयोजन मुमुक्षुओं को सुगमता से आत्मज्ञान की सिद्धि है ।

◆◆◆

वेदान्त केशरी

तावत्गर्जन्ति शास्त्राणी जम्बुका विपिने यथा ।
न गर्जन्ति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केशरी ॥

जंगल में जबतक महा बलवान सिंह गर्जन नहीं करता है, तभी तक जंगल में लोमड़ी, शियाल, गीदड़, कुत्ते, गधे, घोड़े, सूअर आदि चिल्लाते रहते हैं । सिंहनाद सुनते ही सब अपने-अपने घरों में चुपचाप घुस

बैठ जाते हैं । इसी प्रकार जब तक नगर में वेदान्त सिद्धान्तों की गर्जना करने वाले सच्चे महापुरुष नहीं पहुँचते हैं, तभी तक अयथार्थ दर्शी, पंडित, कथा वाचक्, पुरोहित, महात्मा द्वारा रामलीला, कृष्णलीला आदि पुराण शास्त्रों के द्वारा मिथ्या भेदवाद की कथाएँ मनोरंजनार्थ होती रहती है । किन्तु जब उस नगर में कोई यथार्थ दर्शी वेदान्त केशरी महापुरुष पहुँच जाते हैं, तब सभी अयथार्थ दर्शी मौन हो मन ही मन ईर्षा करने लगते हैं, क्योंकि सच्चे महापुरुषों द्वारा प्रतिपादित यथार्थ वेदान्त दर्शन से उनके स्वार्थमय अन्धे धन्दे बन्द हो जाते हैं । क्योंकि यथार्थ तत्त्व दर्शन द्वारा ज्ञान चक्षु प्राप्त हो जाने से उनके पीछे अन्धानुकरण करने वाले कम हो जाते हैं ।

◆◆◆

गुरु पूजा क्यों

मूर्ति पूजा द्वारा भक्त को जितना फल प्राप्त होता है वह भक्त की श्रद्धा, भावना, विश्वास के अनुरूप शास्त्र अनुसार उसे मरने पर प्राप्त होता है । मूर्ति की तरफ से उस भक्त को किंचित् भी फल प्राप्त नहीं होता, क्योंकि मूर्ति जड़ होने से उस भक्त की प्रार्थना, मनोभाव, आर्तता, अश्रु प्रवाह आदि को नतो देख पाती है, न सुन पाती है, न जिज्ञासु की शंका का समाधान हो पाता है, न पंच भ्रान्तियों की निवृत्ति ही हो पाती है । इसलिये चित्र, मूर्त्ति एवं ग्रन्थ को कल्याणकारी गुरु रूप नहीं माना जाता है ।

जबकि जीवित ज्ञानी सद्गुरु की सेवा-पूजा-प्रार्थना, शरणागती, श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेम करने से उन सद्गुरु के मन में उस शरणागत भक्त के कल्याण का भाव जाग्रत हो जाता है और वे उसे तत्त्वज्ञान का उपदेश कर जीवन मुक्ति का अनुभव करा देते हैं, जब कि भगवान की उपासना का फल शास्त्र अनुसार मरने के बाद परोक्ष रूप है ।

देव ईश्वर की भक्ति कुंवारी भक्ति है किन्तु गुरु की भक्ति सौभाग्यवती, फलवती है । जैसे पत्थर पर रखा बीज कभी अंकुरीत, उत्पन्न नहीं होता किन्तु भूमि पर डाला बीज अनेकता को प्राप्त होता है । जैसे कुंवारी लड़की द्वारा अपने से सन्तान उत्पत्ति नहीं हो पाती है जब कि उस लड़की का सम्बन्ध योग्य लड़के से होने पर वह सौभाग्यवती सन्तान उत्पत्ति का हेतु हो जाती है । इसी प्रकार चैतन्य सद्गुरु के प्रति की गई भक्ति शिष्य को अनन्त लाभप्रद अर्थात् मोक्ष प्रदायिनी होती है ।

यस्य देवे पराभक्ति यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

अज्ञान काल में अपने कल्याणार्थ जैसी श्रद्धा, भक्ति, विश्वास भगवान के प्रति कर रहे थे, किन्तु निराशा ही प्राप्त हो रही थी, हे जिज्ञासुओं ! वर्तमान जीवन में ही यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो किसी वेदान्त केशरी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की भगवान के समान ही श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, विश्वास द्वारा शरण ग्रहण करो । वे करुणा सागर दीनबन्धु जिज्ञासु को जीवन मुक्ति प्रदान करा देने में एकमात्र समर्थ है । मूर्तिपूजा से सद्गुरु पूजा करने का यही प्रत्यक्ष एवं दुगना अन्तर है ।

◆◆◆

सद्गुरु कृपा

जिसे सद्गुरु की या अपने इष्ट की कृपा प्राप्त हो उसे ही यह अत्यन्त पवित्र, गोपनियों का राजा, विद्याओं का राजा, अति उत्तम प्रत्यक्ष फलवाला धर्मयुक्त साधन करने में अति सुगम ज्ञानयोग प्राप्त होता है । जिसको जानकर शिष्य दुःख रूप संसार से मुक्त हो जाता है । भगवान भी

कहते हैं -

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ - गीता ९/२

सरल हृदय वाला शरणगत शिष्य सद्गुरु की कृपा दृष्टि को प्राप्त कर लेता है, किन्तु जिस के मन में प्रबल देहाभिमान एवं अशुद्धता है उस अहंकारी मलिन चित्तवाले को इस ब्रह्मविद्या एवं ब्रह्मदर्शी सद्गुरु पर श्रद्धा, विश्वास, प्रेम नहीं हो प्रत्युत घृणा, तिरस्कार एवं निन्दारत हो अपना सर्वनाश ही करता है । ऐसा अश्रद्धालु परमात्मा को न प्राप्त हो जन्म-मृत्यु संसार को ही बारम्बार प्राप्त होता है । भगवान भी कहते हैं -

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ - गीता ९/३

समस्त ज्ञान में श्रेष्ठ आत्मज्ञान को प्राप्त होकर श्रद्धालु शिष्य संसार सागर से मुक्त हो परमधाम को प्राप्त हो जाते हैं । फिर वे शरीर भाव में नहीं आते एवं देह नाश होने पर व्याकुल भी नहीं होते । भगवान भी कहते हैं -

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ - गीता : १४/२

जो सद्गुरु के द्वारा बताये सत् शास्त्र सिद्धान्त में संशय करते हैं और उन में दोष दर्शन कर अपने कल्याण के लिये शास्त्र विधि का त्याग कर मनमाना आचरण करते हैं ऐसे नराधम पापी न तो परमगति को प्राप्त करते हैं न सुख और न वे शीघ्र मनुष्य जन्म को ही पाते हैं । भगवान भी कहते हैं -

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ - गीता : १६/२३

दम्भ और अहंकार से युक्त, संत व शास्त्र में अश्रद्धा करने वाले मूढ़ मनुष्य शास्त्र विधि का त्यागकर केवल मन कल्पित घोर तप को तपते हैं । वे शरीर रूप से भूत समुदाय को और अन्तःकरण स्थित द्रष्टा जीवात्मा को भी कृश करने वाले हैं । उन अज्ञानियों को असुर स्वभाव वाले जानना चाहिये । श्रीकृष्ण भी कहते हैं -

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विता ।। - १७/५

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।। - १७/६

जो निष्काम भाव से परमात्मा को साकार अथवा निराकार तत्त्व की उपासना अनन्य भाव से निरन्तर करते हैं उन भक्तों पर भगवान प्रसन्न हो सद्गुरु रूप में प्रकट हो उन्हें तत्त्वज्ञान रूप योग देते हैं । जिससे वे श्रद्धालु भक्त उस परमगति को प्राप्त होते हैं जिसे पाकर उन्हें पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होना पड़ता । भगवान भी कहते हैं -

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते । - गीता : १०/१०

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञान दीपेन भास्वता ।। - गीता : १०/११

सद्गुरु ही केवल जीव के अन्तःकरण में स्थित अज्ञान जनित अन्धकार को तत्त्वज्ञान रूप प्रकाश द्वारा नष्ट कर शिष्य को जीवनमुक्ति प्रदान करा देते हैं । इसलिये मोक्षाभिलाषी साधक को सद्गुरु के प्रति भगवत् बुद्धि बनाये रखना चाहिये । उन्हें संसारी मनुष्य की तरह नहीं देखना चाहिये ।

यस्य देवे पराभक्ति यथादेवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिताह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

संसार बन्धन से मुक्त होने के लिये भगवान अपने भक्त को सद्गुरु की शरण ग्रहण करने के लिये ही आदेश करते हैं । रामकृष्ण परमहंस को उनके इष्ट माँ काली ने, तोतापुरी जी को गुरु रूप में ग्रहण करने का आदेश दिया एवं भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गुरु गृह जाकर ब्रह्मविद्या प्राप्त करने की विधि बतलायी ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।। - गीता : ४/३४

उस ज्ञान को तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझना चाहिये । उनको भली भांति श्रद्धा एवं दीनता पूर्वक दण्डवत् प्रणाम करके उनकी प्रसन्नतानुसार हृदय से सेवा करना चाहिये । फिर जब वे गुरुदेव प्रसन्न शान्त दिखाई दें तब अपने कल्याण के लिये उनसे प्रार्थना करना चाहिये । जब परमात्मा तत्त्व को जानने वाले सद्गुरु के श्रीमुख से जो तत्त्वज्ञान का उपदेश मिले उसे पूर्ण श्रद्धा विश्वास से शिष्य को करना चाहिये । श्रद्धावान को ही आत्मज्ञान की एवं आत्मज्ञानी को ही परम शान्ति रूप मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यसितो हि सः ।। - गीता : ९/३०

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पाप कृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवे नैव वृजिनं संतरिष्यसि ।। - गीता : ४/३६

चाहे कोई कितना पापी, अपराधी ही क्यों न हो तो भी वह सद्गुरु के ज्ञान रूप नौका द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्र से बिना प्रयास भली भान्ति पार हो जाता है । वह साधु ही मानेने योग्य है ।

जो मुमुक्षु सद्गुरु द्वारा परमात्मा को आत्मरूप से जान चुका है वह स्वयं ब्रह्म रूप ही होता है । **ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति** - अतः गुरुदेव व

परमात्मा में भेद नहीं मानना चाहिये । '*गुरु साक्षात् परम् ब्रह्म*' - ऐसा भगवान शंकर गुरु गीता में बता रहे हैं । जो गुरु में संसारी मनुष्य का भाव रखता है एवं अपनी तरह उन्हें भी कामी, क्रोधी, लोभी, मोही जानता है वह ज्ञान एवं मोक्ष का अधिकारी नहीं है । गुरु की महानता का स्पर्श करने हेतु जिज्ञासु को दीनता स्वीकार करना होगी ताकि अग्नि स्वरूप गुरु में कोयले के समान अधम जीव को उनके शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करा सके । अथवा गन्देनाले रूप शिष्य पवीत्र गंगा रूप सद्गुरु के साथ अभिन्नता को प्राप्त हो अखण्डानन्दरूप सागर को प्राप्त हो सके ।

ईश्वर की कृपा ईश्वर द्वारा व्यक्त नहीं होती, प्रत्युत सद्गुरु द्वारा ही प्रकट होती है, क्योंकि ईश्वर का स्वरूप निराकार है, किन्तु सद्गुरु उनका ही साक्षात् साकार रूप है । ईश्वर जब कृपा करते हैं तो साधक के लिये विवेक, वैराग्य का वातावरण पैदा कराकर फिर आत्मज्ञान प्राप्ति कराने हेतु किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के मिलन का संयोग पैदा करते हैं । जब मुमुक्षु के मन में परमात्मा प्राप्ति की तीव्र उत्कण्ठा जाग्रत होती है तब वे स्वयं सद्गुरु रूप से अवतरित हो जाते हैं । ईश्वर का अनुग्रह, देव कृपा से ही सद्गुरु की प्राप्ति प्रकट होती है ।

गुरु कुम्भार शिष्य कुम्भ है, घड़ घड़ मारे चोंट ।
भीतर हाथ सहारा दे, बाहर बाहर चोंट ॥

सद्गुरु शिष्य के आन्तरिक सुधार हेतु बाहर से चोंट करते हैं । उसका मिथ्या अभिमान निर्मूल करने हेतु कभी-कभी ऐसा कहदेते हैं कि शिष्य सुनते ही उसकी श्रद्धा की जड़ उखड़ने लगती है । किन्तु भीतर से उसे सद्गुरु अपनी निष्कामता, समता एवं प्रेम का सहारा दिये रहते हैं । जैसे कुम्हार बर्तनों को सौन्दर्यता प्रदान करने हेतु बाहर से चोंट मारता है, किन्तु भीतर से उसे सहारा दिये रहता है । सद्गुरु शिष्य के पतन हेतु सजा, तिरस्कार या अपमानादि नहीं करता, बल्कि उसे श्रेष्ठ बनाने हेतु ही ऐसा

करता है । जिसे परमात्मा को प्राप्त करके की प्राणों से भूख जाग्रत हुई है, उसे गुरुदेव के किसी भी व्यवहार से क्रोध नहीं होता बल्कि सहिष्णु ही बनना चाहिये ।

जो शिष्य गुरु द्वारा अपने को अपमानित मानता है सद्गुरु कृपा को क्रोध या दण्ड रूप मानता है, वह अश्रद्धालु देहाभिमानी मलिन बुद्धि वाला ब्रह्म स्वरूप सद्गुरु की कृपा से वचिंत् रह जाता है ।

यह तन विष की बेलड़ी, गुरु अमृत की खान
।
शीष चढ़ाये गुरु मिले, तो भी सस्ता जान ।।

सद्गुरु शिष्य का देह भाव छुड़ाकर उसे आत्मभाव में स्थिर करने का प्रयास सदा करते रहते हैं । किन्तु अज्ञानी उनके शुद्ध, निष्काम प्रेम को नहीं समझने के कारण अमृत स्वरूप गुरुदेव की निन्दा, बदनामी कर दुर्गति को ही प्राप्त होते हैं ।

अस्तु ! प्राण पर्यन्त हर प्रकार सेवा, त्याग एवं सम्पूर्ण समर्पण द्वारा उन्हें प्रसन्न कर उनकी कृपा दृष्टि प्राप्त करने का पूर्ण पुरुषार्थ करते रहना चाहिये । बस यही तीव्र उत्कंठा मन में बनाये रखें कि जीवन में मुझे चाहे कुछ भी न मिले किन्तु केवल सद्गुरु मिलजावे, मेरे पर उनकी कृपा दृष्टि पड़ जावे तो मेरा जीवन धन्य हो जावे ।

चालाक साधक गुरुदेव की सेवा करने से सदा चोरी करते रहते हैं, मुंह छिपाते रहते हैं । किन्तु बातों से वे ऐसा दिखाते रहते हैं जैसे उनके समान सम्पूर्ण भाव से सेवा करने वाला कोई अन्य नहीं है । जब कभी उन पर सेवा का अवसर आता है तो वे अपनी चालाक बुद्धि से उस कार्य को दूसरे शिष्यों से करा लेते हैं । सद्गुरु ऐसे शिष्यों के अहंकार गिराने हेतु कोई वस्तु, वस्त्र लाने एवं ऐसा कोई काम बता देते हैं जिससे वह दम्भि या

तो उनसे दूर हो जाता है अथवा समर्पण से पूर्व जो समर्पण का अहंकार था उसका उसे अनुभव करा देते हैं ।

मोक्ष हेतु ऐसे सद्गुरु को खोजना चाहिये जो स्वयं बाह्य चेतना युक्त हो एवं शिष्य के देहाभिमान को दूर कर आत्म भाव में स्थिर करा सके । देहाभिमान गिराकर आत्म भाव जाग्रत कराना ही तो सद्गुरु की कृपा है ।

चालाक लोग संसार को अपना सर्वस्व मानते रहते हैं और मुख से गुरु को '***त्वमेव सर्वम् मम गुरुदेव देवः***' कहते रहते हैं, यह सद्गुरु की सच्ची भक्ति नहीं है ।

समदर्शी गुरुदेव अपने आप कभी उपदेश करना नहीं चाहते, क्योंकि वे सदा एक, अखण्ड, मुक्त ब्रह्म भाव में भी विचरण करते रहते हैं । जब कोई जिज्ञासु श्रद्धा भाव से उनके सम्मुख पहुँचकर प्रार्थना करता है कि -

"असतो मा सद्गमय,
तमसोमा योतिर्गमय,
मृत्योर्माऽमृतं गमय ।"

- हे गुरुदेव ! आप मुझे भव वन्धन से मुक्ति दिलाइये, तब वे सद्गुरु उस जिज्ञासु को यही कहते हैं कि तू तो पूर्ण ब्रह्म है । तेरे स्वरूप में अज्ञान बन्धन दुःख द्वन्द्व नहीं है ।

समदर्शी सत्गुरु सभी जिज्ञासुओं पर समान कृपा दृष्टि करते हैं; किन्तु जो उनसे विशेष प्रेम रखते हैं उन पर उनकी अकारण करुणा बरस पड़ती है । शिष्य जब भी सद्गुरु के सम्मुख जावे तो उनकी प्रसन्नता प्राप्त करने हेतु उनके व आश्रम के उपयोगी वस्तु को उन की सेवा में भेंट करे जो कि समिधा नाम से कही जाती है ।

बुझे हुए दीपक को प्रकाशित दीपक से जोड़ने की तरह अपने हृदय को सद्गुरु से जिसने जोड़ लिया है, वही उनके ज्ञान प्रकाश एवं आनन्द को अपने हृदय में अनुभव कर पाता है । अतः सद्गुरु से कभी भेद भाव न रखें ।

ज्ञान गुरु को कीजिये बहुतक गुरु लबार ।
अपने अपने लोभ से ठौर ठौर बटमार ॥

वेश देख मत भूलिये पूछ लीजिये ज्ञान ।
मोलकरो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान ॥

कन फूंका गुरु हद का, बेहद का गुरु और ।
बेहद का गुरु जब मिले, लगे ठिकाना ठौर ॥

झूठे गुरु अजगर बने, लख चौरासी जाय ।
शिष्यगण चींटी बने, नोंच नोंच के खाय ॥

पुरे गुरु शिष्य को सदा शिष्य रूप में ही नहीं बनाये रखते हैं, प्रत्युत वे उसे देह भाव, कर्ता-भोक्ता भाव, जीव-भाव, बन्ध भाव, ईश्वर भाव से मुक्त कराकर ब्रह्म भाव में आरुढ़ करा देते हैं । वे कर्म, उपासना चित्तशुद्धि तक ही शिष्य से कराते हैं और जब आत्म जिज्ञासा उसमें उदय हो जाती है तब उसे कर्म, उपासना से मुक्त कराकर वेदान्त तत्त्व का ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन कराते है । जब मुमुक्षु की ब्रह्माकार वृत्ति देहभाव की तरह दृढ़ हो जाती है तब वह जीवन्मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ।

जिस गुरु ने अपनी गुरुता के अभिमान का त्याग कर दिया है वही सच्चा सद्गुरु है । वास्तविक गुरु किसी विशेष नाम, वेश, केश, दण्डादि चिह्न को धारण नहीं करते । ज्ञानी गुरु का जीवन सामान्य मनुष्यों की तरह

ही रहता है । उन्हें देख कोई शीघ्र नहीं जान सकता कि यह कोई ज्ञानी संत है ।

जिसने गुरुता का अहंकार मिटा दिया है वही शिष्य के मन से ईश्वरता को निकाल सकता है । किन्तु जिनको गुरु बन कर पूजवाना अच्छा लगता है वह शिष्यों के मन से ईश्वर, मूर्तिपूजा को बनाये रखने का ही उपदेश करता रहता है ।

जो गुरु धन, पद, रूपादि बाह्य वैभव को देख जिज्ञासुको अपना शिष्य बनाकर सम्मान देता है वह सद्गुरु कहलाने का अधिकारी नहीं है । जो शिष्य को सदा शिष्य भाव में बनाये रखकर अपने आगे-पीछे चेलों की भीड़ चलाये रहने से अपनी महानता मानता है वह सद्गुरु नहीं है । जो उच्च अधिकारी व धनाढ्य लोगों को अपने सम्मुख भूमि पर दंडवत् प्रणाम करते हुए देख अपने मन में गौरवता का भाव रखता है कि मैं कितना महान् हूँ तो यह गुरु की पामरता ही है, वह अधोगती को ही प्राप्त होगा जो शिष्यों की भीड़ से अपने को महान् जानता है वह तो गुरु ही नहीं प्रत्युतः शिष्यों का दास हो गया है । जो शिष्यों के मतानुसार खाता, पीता, पहनता, चलता, बोलता एवं अन्य समस्त व्यवहार करता है वह सद्गुरु नहीं हो सकता । डॉक्टर यदि रोगी के इच्छानुकूल सब प्रकार के खाने, पीने, करने, चलने की छूट दे तो उस रोगी की दुर्दशा ही होगी, कल्याण नहीं हो सकेगा । इस प्रकार जो शिष्य के आश्रित गुरु चलने लगजावे उसके शिष्यों की एवं स्वयं की सद्गति नहीं हो सकेगी । सद्गुरु वही हो सकता है जो जिज्ञासु के मन की भेदभ्रान्ति, कर्त्ता-भोक्ता भ्रान्ति, संग भ्रान्ति, विकार भ्रान्ति तथा ब्रह्म से भिन्न जगत् सत्य इन पाँचों भ्रान्तियों को दूर कर एक ब्रह्म का आत्मरूप से निश्चय करा सके ।

सद्गुरु से श्रेष्ट तीनों लोकोमें कोई देव नहीं है । ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर सदा ब्रह्मज्ञानी संत को खोजते रहते हैं कि हमें कोई संत मिल जावे

ताकि उसकी सेवा कर धन्य हो सकें ।

मूर्ति पूजा से भक्त को उसकी श्रद्धा भावना एवं विश्वास के अनुरूप ही केवल फल मिलता है, उस से ज्यादा नहीं । मूर्ति जड़ होने से वह उस पुजारी के कल्याणार्थ कोई अशीर्वाद संकल्प नहीं कर सकती; क्योंकि वह उस भक्त की आर्तता, प्रार्थना, श्रद्धा भावना को ग्रहण ही नहीं कर पाती है तो उससे फल पाने की आशा करना ही व्यर्थ है । इसलिए चित्र, मूर्ति एवं ग्रन्थ गुरु नहीं हो सकते । शरणागत शिष्य की प्रार्थना, सेवा, भक्ति, प्रेम, आर्तता को देख सद्गुरु के मन में उस शिष्य के कल्याणार्थ करुणा एवं प्रेम उमड़ जाता है । इसलिए मूर्ति पूजा से सद्गुरु की पूजा में दोहरा लाभ है । शरणागत शिष्य को वे उसके कल्याणार्थ तत्काल उपदेश करने को प्रस्तुत हो जाते हैं और शिष्य का इसी जन्म में कल्याण करा देते हैं । जब कि भगवान की पूजा का शास्त्रानुसार अदृष्ट (परोक्ष) फल होता है । तीर्थों में जाने की अपेक्षा ज्ञानी संतों के समीप जाना सर्वोत्तम साधन भक्ति है । वे चलते हुए तीर्थराज प्रयाग है ।

मुद मंगल मय संत समाजु ।
जो जग जंगम तीरथ राजु ।।

उपनिषद भी कहते है कि - जैसे श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, विश्वास अपने कल्याणार्थ भगवान के मूर्ति, चित्र के प्रति करते आ रहे थे अब ईश्वर कृपा से सद्गुरु के मिल जाने पर भगवान की तरह उन गुरुदेव भगवान की भक्ति, सेवा, पूजा, श्रद्धा, विश्वास करना चाहिये । जो श्रद्धालु सद्गुरु में ही भगवत् बुद्धि रखता है उस शिष्य के कल्याण मार्ग में ब्रह्मा भी रुकावट नहीं डाल सकता ।

राखहि गुरु जो कोप विधाता ।
गुरु प्रकोप नहीं कोउ जग त्राता ।।

क्योंकि गुरु साक्षात् परम ब्रह्म है - ऐसे वेद कहते हैं । गुरुवाणी ही वेदवाणी है ।

तीन लोक नव खण्ड में, गुरु से बड़ा न कोय ।
कर्ता चाहे न कर सके, गुरु चाहे सो होय ।।

गुरु शिष्य के आत्म उद्धार करने की अद्भुत शक्ति रखता है । भगवान् जीव का परम कल्याण करने की सामर्थ्य नहीं रखते हैं । भगवान् जब प्रसन्न होते हैं तो किसी सद्गुरु से उसे मिला देते हैं ।

सद्गुरु वही जो अपने में गुरुता का अहंकार त्याग चुका है, जिसने अपने देहभाव को मन से मिटा दिया है । सद्गुरु शरणागत भक्त के देह भाव को मिटा आत्मभाव उत्पन्न करा देने में एक कुशल शिल्पी है । सद्गुरु सुहृद भाई-बन्धु, पिता-माता, सेवक-स्वामी आदि सभी है । पिता जन्म दिलाकर मृत्यु पर पहुँचा देता है, किन्तु गुरु देहभाव मार कर अमृत्व दिला देता है । इसलिए कहा जाता है कि गुरु के मारने में भी तारना है । सद्गुरु शिष्य के कल्याण से पूर्व कुछ भी धन, उपहार भेंट स्वीकार नहीं करते हैं । शिष्य का कल्याण हो जाने पर ही गुरु दक्षिणा के रूप में शिष्य से उसके श्रद्धा सुमन स्वीकार करते हैं ।

गुरु तो ऐसा चाहिये, शिष्य से कछु न लेय ।
शिष्य तो ऐसा चाहिये, गुरु को सर्वस्व देय ।।

सद्गुरु भूखा भाव का, धन का भूखा नाहि ।
जो धन का भूखा फिरे, वह तो साधु नाहि ।।

परमात्मा इन्द्रियों के द्वारा देखा नहीं जा सकता, मन के द्वारा उसका ध्यान नहीं किया जा सकता, वाणी के द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता और बुद्धि के द्वारा उसका निश्चय भी नहीं किया जा सकता ।

इसलिये उसे *अप्रमेय* अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, चक्षु आदि इन्द्रियों से जानने में सर्वथा असम्भव है । ऐसे अवा' मानसगोचर तत्त्व का जो मन, वाणी, बुद्धि आदि इन्द्रियों का अविषय होने पर भी उस अद्वितीय, अखंड, ब्रह्मतत्त्व का आत्म रूप से अनुभूति करा देना एकमात्र सद्गुरु की अद्भूत चमत्कारी शक्ति का ही कार्य है । वेद भी जिस तत्त्व का 'नोति नोति' कहकर चुप हो जाता है, सद्गुरु उसी विषय का साक्षात्कार कराने में एक सिद्धहस्त महापुरुष है ।

लघु से गुरु बनने हेतु ही गुरु शरण लेनी पड़ती है । जीवन पर्यन्त लघु (शिष्य) बने रहने के लिये नहीं । जो गुरु अपने शरण में आये हुए शिष्य को सारे जीवन शिष्य रूप में बना रखता है एवं उसे पूर्णता का बोध नहीं करा पाता है, तो वह गुरु बनने योग्य नहीं है ।

तुलसी गुरु अरु पारस में, बड़ा अन्तरा जान
।
पारस तो सोना करे, गुरु करे आप समान ।।

यदि ग्लास मे अमृत पीने को मिले तो अमृत को ही महत्व देना चाहिये ग्लास को नहीं । उसी प्रकार सद्गुरु के द्वारा ज्ञानामृत पान करने को मिले तो उस अमृत को ही महत्व देना चाहिये । अमृत को छोड़ केवल सद्गुरु के शरीर की ही सर्वदा आराधना उपासना करने वाला संसार बन्धन में ही पड़ा रहता है ।

गुरु मिला तब जानिये, मिटे मोह तन ताप ।
हर्ष शोक व्यापे नहि, तब गुरु पूरण आप ।।

गुरु नाम है ज्ञान का, सीख ले वह शिष्य ।
आत्म तत्त्व जाने बिना, कबहुँ न मुक्ति होय ।।

ज्ञान गुरु को कीजिये, बहुतक गुरु लबार ।

अपने अपने लोभ को, ठोर-ठोर बटमार ॥

देह में गुरु भावना एवं गुरु में देह भावना ने अनेकों श्रद्धालुओं को धोखा दिया है, अपहरण हुआ है । परमज्ञान एवं मुक्ति से वे वंचित् ही रह जाते हैं । जो केवल गुरु के ही चरण धोकर पीते रहते हैं एवं उनके उच्छिष्ट भोजन को ही अमृत मान खाते रहते हैं किन्तु तत्त्वज्ञान धारण नहीं करते, वे बारम्बार जन्म-मरण के बन्धन में पड़े दुःख भोगा करते हैं ।

झूठे गुरु अजगर बने, लाख चौरासी जाय ।
शिष्यगण चींटी बने, नोंच नोंचके खाय ॥

जिसके प्राण सत्य के लिये व्याकुल हो उठे है, जो परमात्मा को पाने हेतु आर्त होकर हृदय से पुकार रहा है, जिसका जीवन जल से रहित मछली की तरह परमानन्द के लिये तड़फ रहा है; उसके कल्याणार्थ सद्गुरु रूप में परमात्मा प्रकट होकर सत्संग का द्वार खोल उसका इसी जीवन में कल्याण कर देते हैं । सद्गुरु की अमृत वाणी का अनेकों को एक साथ लाभ मिल सकता है । जिस गृहस्थ को विरक्त ज्ञानी संत का उपदेश श्रवण करने को मिलता है वह बहुत सौभाग्यशाली है और जिस घर में संत के चरण पड़ते हैं, वह घर तीर्थ मन्दिर रूप हो जाता है; क्योंकि गुरु परमात्मा का साक्षात् साकार रूप है ।

निराकार वह राम है लखि न सके कोउ अन्त ।
जो चाहो आकार युक्त, तो प्रत्यक्ष गुरु भगवन्त ॥

सद्गुरु वही है जो अपने सहित सबको आत्म रूप जाने । वह अपने शिष्यों को यही निश्चय कराता है कि तुम आत्मा हो । प्रायः देखा जाता है कि सद्गुरु का शरीर छूट जाने पर शिष्य गण छाती, सर पीट रोते

रहते हैं । किन्तु उनके द्वारा प्रदत्त आत्म ज्ञान का विचार नहीं करते । विचारें ! सद्गुरु ने आत्मा के प्रति सत्य बुद्धि करना बताई है या शरीर के प्रति ? सद्गुरु ने अपने शरीर के प्रति सत्यबुद्धि करना नहीं बताया, प्रत्युतः उनके द्वारा दिये आत्मज्ञान में श्रद्धा, प्रेम, विश्वास करना ही सत्संग का तात्पर्य समझाया है । अज्ञानी लोग अपने गुरु से कहते हैं, जब हम मरेंगे तो आप हमारे समीप रहेंगे, हम आपको देखते हुए प्राण छोड़ेंगे । इस प्रकार के अज्ञानी लोगों ने अपने को आत्मा रूप नहीं जाना है बल्कि देह ही अपने को जाना है एवं गुरु को भी अपनी तरह देह ही जानते हैं ।

सद्गुरु मिलने से पहले प्रतिदिन सत्संग सुनने का अभ्यास बनाये रखना तो श्रेयस्कर है । इस प्रकार करते रहने से एक दिन अवश्य उसे कोई सच्चा संत मिल जावेगा । लेकिन सद्गुरु के द्वारा ज्ञानोपदेश प्राप्त कर लेने के बाद भी रोज-रोज सत्संग सुनने का अभ्यास बनाये रखना एक प्रकार की बहिर्मुखता की वासना है । सत्संग श्रवण न मिलने पर कुछ अच्छा न लगना, सत्संग श्रवण होने पर मन प्रसन्न होना, ऐसी मनोदशा वाला व्यक्ति अपने आनन्द स्वरूप आत्मा में श्रद्धा न कर आनन्द को विषय रूप में सत्संग के माध्यम से ग्रहण करता है । यह सत्संग का प्रेमी एक अज्ञानी की तरह ही है जो विषय ग्रहण पर प्रसन्न होता है और न मिलने पर दुःखी होता है । अतः सन्तों के प्रवचन निरन्तर सुनने का अभ्यास नहीं प्रत्युतः अपने सत्-चित्-आनन्द स्वरूप परमात्मा का निरन्तर ध्यान, स्मरण, चिन्तन, मनन करने की ही मन में उत्कण्ठा रहना चाहिये । ***अगर सभा में बैठ प्रवचन ही सुनते रहोगे तो फिर उन अमृत उपदेशों को अपने में उतारने का अभ्यास कब करोगे ? थोड़ा श्रवण कर अधिक मनन करने से ही सत्संग लाभ प्रद होता है ।***

जो सत शास्त्र और सद्गुरु के द्वारा बताये गये सनातन मार्ग का

अनुसरण करते हैं वही अज्ञान जनित अगाध महा मोह सागर को पार कर सकेंगे । जो अज्ञानी जन सद्गुरु व सत् शास्त्र में अश्रद्धा करते हैं उनमें दोषारोपण कर निंदा करते हैं अपनी क्षुद्र बुद्धि का अनुसरण करने वाले जन्म-मरण के बन्धन से कभी मुक्त नहीं हो सकेंगे । बल्कि दुर्गति को ही प्राप्त करेंगे । यह वेद का अकाट्य मत है ।

हरि गुरु निन्दक दादुर होई है ।

मोक्षाभिलाषी साधक बस उतना ही चिन्तन मनन करें, उसी में बुद्धि स्थिर करें, जितना सद्गुरु द्वारा बतलाया गया है । केवल आत्म निष्ठा को दृढ़ाने वाले थोड़े से शब्दों का ही मनन करें; अधिक शब्दों, कठिन श्लोकों तथा खण्डन-मण्डन रूप शब्द जाल में फंसकर बुद्धि को न थकावें ।

जैसे केवल सुनकर ही तो हमने अपने पिता-माता, नाम, जाति, जीव आदि को स्वीकार कर लिया है, उसी प्रकार अब संशय रहित वेद वचन सद्गुरु मुख से ***तत्त्वमसि*** - वह साक्षी ब्रह्म तू है, ऐसा सुनकर क्यों नहीं मान लेतो हो ? सद्गुरु और सत् शास्त्रों में श्रद्धा विश्वास करने वाले को ही ज्ञान एवं मोक्ष की प्राप्ति हो पाती है । सद्गुरु से प्राप्त ***तत्त्वमसि*** ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है । ***आचार्यवान् पुरुषो वेदः ।*** जब कोई तत्त्वज्ञान प्राप्तकर परमात्मा के साथ एकता का अनुभव करलेता है, तब वह महात्मा अज्ञानी के लिये उपास्य हो जाता है । अज्ञानी के लिये तत्त्वज्ञानी महात्मा की उपासना सर्वोत्तम तीर्थ है । जो विवेक वैराग्य युक्त जिज्ञासु निष्काम भावना से उनकी शरण ग्रहण करते हैं, उनको सद्गुरु आत्म ज्ञान प्रदान करते हैं । जिसके फल स्वरूप उस शरणागत को जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाती है । उसे फिर मां के गर्भ में नहीं आना पड़ता । वह शुक्र की मर्यादा से पार हो जाता है । उन्हें अज्ञानी की तरह मरकर पुनः

मेघ, जल, अन्न से वीर्य रूप होकर गर्भ कूप में नहीं गिरना पड़ता है । उत्तम शिष्य ही ज्ञानी महापुरुषों की कुल परम्परा होती है । उन ज्ञानी सतों की कुल परम्परा में कोई भी शिष्य अब्रह्मणत्व को प्राप्त नहीं होता अर्थात् कोई भी अज्ञानी नहीं रहता ।

ज्ञानी महापुरुषों की रहनी मत देखो । संत के जीवन प्रारब्धानुसार निश्चित होते हैं । किसी एक विरक्त संत के जीवन को देख तुम सभी संतों के जीवन को उसके अनुसार न तोलो । अवतारों में भी एक के जीवन लीला का, दूसरे अवतार के साथ कोई एकता नहीं दिखाई पड़ती है । देखो ! राम के जीवन की कृष्ण के जीवन के साथ कोई समानता नहीं मिलती है । एक दूसरे की विलक्षण जीवन लीलाएँ हैं । अतः संतो के बाह्य जीवन को देख तुम उनके ज्ञान का मुल्यांकन मत करो ।

कृष्ण भोगी शुकस्त्यागी नृपौ जनक राघवौ
।
कर्मनिष्ठ। वसिष्ठाद्याः सर्वे ते ज्ञानिनः समा ।।

सभी प्राणी प्रारब्ध अनुसार अपनी अपनी प्रकृति को प्राप्त होते हैं । अर्थात् अपने स्वभाव के परवश हुए कर्म करते हैं । ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है । फिर इसमें किसी के जीवन आचरण की दूसरे के जीवन आचरण के साथ कैसे संयोग हो सकेगा और उसमें किसी का हठ भी नहीं चल सकेगा कि मैं ऐसा नहीं होने दूँगा ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।। - गीता : ३/३३

जब किसी मुमुक्षु को ब्रह्मज्ञान होता है, तब उस ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि, वाणी, व्यवहार में एक मधुरता, सरलता, प्रेम छलक पड़ता है । उसके रहन, सहन, वार्तालाप में एक माधुर्यता छा जाती है । वह किसी से

द्वेष या कटु व्यवहार नहीं करता । उसका जीवन एक छोटे पौधे की तरह लचीला, मुलायम, अहंकार रहित हो जाता है । वृक्ष पर फल आने से जैसे टहनियों में झुकाव आ जाता है इसी प्रकार ब्रह्मविद्या सम्पन्न ब्राह्मण में सरलता, समता, प्रेम निखर पड़ता है ।

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गविहस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ - गीता : ५/१८

ऐसा भी शास्त्रों में पढ़ा, सुना व देखा जाता है कि जब किसी ब्रह्मज्ञानी में सिद्धि प्रकट हो जाती है तो उसकी देह से चींटी भी मधुरता का पान करने आजाती है । सुन्दर स्त्रीयोँ, यूवतियाँ उसे घेरे रहती हैं । प्रेम स्निग्ध मृग नयनियों का समूह उसके पास आगे पीछे उसी प्रकार लगा रहता है जैसे पुष्पों के ऊपर भ्रमर व मधुमक्खियों गुंजार करती है । सद्गुरु के समीप से उठकर जाना उन्हें ऐसा लगता है जैसे उनके प्राण ही निकल कर चले जा रहे हों । गोपियों को छोड़ जब कृष्ण मथुरा चले गये तब उन गोपियों की मनोदशा इसी प्रकार हो गई थी ।

अज्ञानी जैसा अपने को किसी स्त्री, धन, शत्रु या परिवार के सन्मुख कामी, क्रोधी, लोभी, मोही अनुभव करता है उसी प्रकार के वातावरण में किसी संत को भी देख उन परम शुद्ध, परम पवित्र संत के जीवन के प्रति भी अपनी तरह कामी, क्रोधी, लोभी, मोही होने की गलत धारणा करलेता है ।

गुरु अन्दर व बाहर दोनों तरफ काम करता है । बाहर वह ऐसे वातावरण को उत्पन्न करा देता है कि तुम्हारा मन वहाँ से उपराम हो जाता है और हृदय केन्द्र आत्मा में भीतर की तरफ आकर्षित भी करता रहता है । इस प्रकार प्रकृति रूप से बाहर से धक्का देता रहता है, चोट मारता

रहता है, जिससे तुम्हारी संसार में आसक्ति न रहे एवं अन्दर से आत्मरस प्रदान करता रहता हुआ भीतर की ओर भी खींचता रहता है ।

आत्मा, गुरु, ईश्वर -यह तीन तत्त्व नहीं; बल्कि एक ही तीन नामों से कहे जाते हैं । जब तक तुम ऐसा सोचोगे कि 'मैं परमात्मा से पृथक् हूँ' अथवा 'मैं देह हूँ' तबतक बाह्य गुरु की परमावश्यकता है । देहधारी गुरु तुम्हें देहभाव से हटा आत्मभाव में स्थिर करा कर, स्वयं भी अपने को गुरु रूप से हटा एक ब्रह्मरूप ही जानता है । उस पूर्णता की अवस्था में फिर गुरु शिष्य का प्रभेद नहीं रहता है ।

बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।

सद्‌गुरु की कृपा का मूल्यांकन शिष्य को अपने भौतिक नश्वर वस्तु की प्राप्ति से नहीं करना चाहिये । विवाह, धन, पुत्र, मकान, सम्मान, पद प्रतिष्ठा : यह सब जीव के प्रारब्ध कर्मानुसार प्राप्त होते हैं । सद्‌गुरु की कृपा तो जीव के अनादि कालीन भूले हुए आत्म स्वरूप की स्मृति करा देहभाव, कर्ता-भोक्ता भाव, जीव भाव तथा बन्ध को उसके मन से निर्मूल करा देने से है ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वप्रसादान्मयाच्युत ।।

– गीता : १८/७३

आत्मनिष्ठ संत जिज्ञासुओं के अधिकारी भेद से ही उनके कल्याणार्थ उपदेश करते हैं ।

दुर्लभता क्या

अनादि काल से जीव अपने द्रष्टा, साक्षी,अखण्ड, असंग आत्म

स्वरूप को न जानते हुए इस नश्वर अनात्म, विकारी देह को ही अपना वास्तविक स्वरूप जानने के कारण असहनीय कष्टों को भोगता चला आ रहा है । इसलिये संसार के प्रत्येक प्राणी अपने समस्त दुःखों का समूल नाश एवं अखण्डानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष की ही इच्छा करते हैं । किन्तु इस मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि केवल मनुष्य जीवन में ही हो सकती है । मनुष्य जीवन के अतिरिक्त कीट से लेकर ब्रह्मादिक पर्यन्त समस्त योनियाँ भोगालय मात्र ही है । मनुष्य योनि के अलावा किसी अन्य योनि में जीव अपने उद्धारार्थ साधन नहीं करपाता है ।

प्रथम तो जीव को यह मनुष्य जीवन मिलना ही दुर्लभ है । क्योंकि चौरासी लाख योनियों के बाद यह मुक्ति के द्वार रूप मानव जीवन प्राप्त होता है ।

''साधन धाम मोक्षका द्वारा'' - रामायण

मानव जीवन में भी निष्काम शुभ कर्मों का करने वाला सदाचारी मिलना कठिन है । उन सदाचारी मनुष्यों में भी बुद्धिमान का होना उससे भी कठिन है । बुद्धिमान के होने से भी आत्मा-अनात्मा, जड़-चेतन, द्रष्टा-दृश्य, स्वयं प्रकाश- पर प्रकाश का अन्तर जानने वाला विवेकी मिलना उससे भी कठिन है । उन विवेक वानों में भी ब्रह्मात्म भाव में सम्यक् स्थिति को प्राप्त तत्त्वदर्शी सद्गुरु का होना सबसे कठीन है ।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वोत्ति तत्त्वतः ।। - गीता : ७/३

हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिये यत्न करता है और उन यत्न करने वालों में भी कोई एक अद्वैत ब्रह्म ज्ञान द्वारा यथार्थ रूप से अपने को जानता है ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।

- गीता : २/२९

कोई एक विवेकशील ही अनात्मा की ओर से विमुख हो आत्मा का विचार करता है और वैसे ही दूसरा कोई तत्त्वदर्शी महापुरुष ही इस के तत्त्व का अद्भुत युक्तियों द्वारा आश्चर्य चकित् करादेने वाली प्रवचन शैली से वर्णन करता है तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास युक्त हो हृदय से सुनता है और कितने ही मन्द बुद्धि वाले साधक इस प्रत्यक्ष फलदेने वाले, परम पवित्र धर्म रूप आत्म तत्त्व को सुनकर भी नहीं जान पाते ।

जैसे प्रत्येक सरोवर में हंस नहीं, प्रत्येक जंगल में चन्दन नहीं, प्रत्येक सर्प को मणि नहीं, प्रत्येक हाथी को मुक्ता नहीं, प्रत्येक सीप में मोती नहीं, प्रत्येक मृग को कस्तूरी नहीं होती- इसी प्रकार इस आत्म तत्त्व के प्रवक्ता एवं श्रोता भी सर्वत्र नहीं पाये जाते हैं ।

आत्मा का स्वरूप द्वैत-अद्वैत आदि अन्त तथा भावाभाव से रहित केवल शुद्ध ज्ञान प्रकाश द्वारा सोऽहम् रूप से जानने योग्य है ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।

- गीता : १३/१७

यह आत्मदेव परब्रह्म समस्त अनात्म, जड़, दृश्य, विकारी, विनाशी पदार्थों का प्रकाशक होने से स्वयं प्रकाश है । तथा यह आत्मदेव नाम, रूप अज्ञान उपाधि से रहित केवल सच्चिदानन्द ज्ञान स्वरूप है । यह ज्ञान स्वरूप आत्मा सद्गुरु द्वारा वेदान्त महावाक्यों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा उत्पन्न हुई ब्रह्माकार वृत्ति ज्ञान द्वारा ही - सोऽहम्,

अहंब्रह्मास्मि, शिवोऽहम् रूप से जानने में आता है । सर्व देश, काल, वस्तु रूप में इसका वास होने से इसे खोजने हेतु किसी अन्यदेश में जाना नहीं पड़ता, प्रत्युत सबके हृदय मन्दिर में ही साक्षी रूप से विराजमान है ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । - गीता : १८/६१

यह आत्मा परमानन्द स्वरूप होने के कारण प्राप्त करने योग्य अर्थात् जानने योग्य है । इस आत्म तत्त्व का ज्ञान देवताओं को भी दुर्लभ बतलाया गया है ।

जो न तरे भव सागर, नर समाज अस पाई ।
सो कृत निंदक मंद मति, आतम हनगति जाई ॥

जो परमात्मा की कृपा से मानव जीवन पाकर भी अपने कल्याण के साधन रूप आत्मज्ञान को प्राप्त करने की जिज्ञासा नहीं करता, उस परमपुरुषार्थ से रहित नराधम का कभी भी कल्याण नहीं हो सकेगा । वह निश्चय ही आत्म हत्यारा है । वह इस नश्वर विकारी मिथ्या अपवित्र शरीर में आसक्ति रखने के कारण अपने को अधोगति में ले जाने वाला है । उससे अधिक मूढ़ और कौन होगा ?

आकर चार लक्ष चौरासी ।
योनि भ्रमत यह जीव अविनाशी ॥

◆◆◆

अधिकारी

प्रथम तो मनुष्य जीवन प्राप्त होना ही दुर्लभ है । उस में आत्म जिज्ञासा का होना उस से भी दुर्लभ है और उस से भी कठिन महापुरुषों की प्राप्ति है । यह सब होने पर भी उन महापुरुषों के प्रति श्रद्धा का होना तो सब

से कठिन है । यह चारों ही अत्यन्त दुर्लभ है ।

श्रद्धावान लभते ज्ञानम् तत्परः संयतेन्द्रिय ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।

शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा, उपरामता, समाधानता आदि सम्पन्न मुमुक्षु ही सद्गुरु द्वारा आत्मज्ञान को प्राप्त करता है । तथा ज्ञान को प्राप्त कर वह तत्काल ही आनन्द रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

ज्ञानादेव तु कैवल्यम् । ऋते ज्ञानान्न मुक्ति ।

ज्ञान पा कर ही जीव को कैवल्य मुक्ति प्राप्त होती है । ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती और उस ज्ञान को पाने के लिये किसी सद्गुरु के समीप जाना पड़ता है ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्षन्ति ते ज्ञानम् ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।। - गीता : ४/३४

उस ज्ञान को भलीभाँति तत्त्वदर्शी महात्मा से जानने के लिये प्रथम उन को श्रद्धा पूर्वक साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करें, फिर उनकी प्रसन्नता के योग्य उपयोगी सेवा करें व अहंकार छोड़ अपने कल्याणार्थ प्रार्थना करें । तब वे परमात्मा तत्त्व को भली प्रकार से जाननेवाले सद्गुरु, उस मुमुक्षु को भलीभाँति आत्मतत्त्व समझावेंगे । फिर उस ज्ञान को श्रद्धा पूर्वक जानकर वह पुनः देहाभिमान को ग्रहण नहीं करता है ।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।।

- गीता : ४/४०

किन्तु विवेक हीन और श्रद्धा विश्वास से रहित, सद्गुरु और

सत्शास्त्र के सिद्धान्तों में संशय युक्त अश्रद्धालु साधक तो परमार्थ पथ से अवश्य ही भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशय युक्त मनुष्य के लिये न यह लोक है, न परलोक है और न भौतिक स्वर्गादिक सुख को ही प्राप्त हो पाता है।

वदन्तु शास्त्राणी यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणिभजन्तु देवता ।
आत्मैक्य बोधेन विना विमुक्तिर्न सिद्धयति ब्रह्म शतान्तरेऽपि ॥

भले ही कोई शास्त्री शास्त्रों की व्याख्या करे, देवताओं का भजन पूजन करे, नाना प्रकार के यज्ञादि शुभकर्म करे, तथापि जबतक उसे ब्रह्म आत्मा की एकता का बोध अर्थात् वह परमात्मा मैं हूँ - इस प्रकार सोऽहम् भाव जाग्रत नहीं होता, तबतक अनन्त युगों में भी उसका समस्त दुःखों से छुटकारा एवं परमानन्द प्राप्ति रूप मोक्ष नहीं हो पाता।

कुरुते गंगा सागर गमनं, व्रत परिपालनम् अथवा दानम् ।
ज्ञान विहीनः सर्वमतेन मुक्ति न भजति जन्म शतेन ॥

चाहे कोई गंगा सागर जावे, चाहे नाना प्रकार के व्रतों को धारण करे अथवा अन्न, गौ, स्वर्ण, भूमि, वस्त्रादि का दान करे, किन्तु बिना ब्रह्मज्ञान के यह सभी अनित्य कर्मों द्वारा सो जन्मो में भी मुक्ति नहीं होगी।
(भजगोविन्दम्)

देहस्य मोक्षो न मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः ।
अविद्या हृदयग्रन्थि मोक्षो न मोक्षो यतस्ततः ॥

हृदय की अविद्या रूप ग्रन्थि के नाश को ही मोक्ष कहते हैं। इसलिये देह त्याग करने अथवा दण्ड कमण्डल के त्याग करने का नाम मोक्ष नहीं है।

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्ष सिद्धयन्ति नान्यथा ॥

- वि.चू. ५८

मोक्ष न योग से सिद्ध होता है, न सांख्य शास्त्र के पढ़ने से, न कर्मों से, न वेद अध्ययन से। समस्त दुःखों से छुटकारा और परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष तो ब्रह्म आत्मा की एकता रूप सोऽहम् चिन्तन से ही होता है और किसी प्रकार मुक्ति का अनुभव नहीं होता।

शब्द जालं महारण्यं चित्त भ्रमण कारणम्।
अतः प्रयत्नात् ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञात्त्वमात्मनः॥ - वि.चू. ६२

शास्त्रों के खण्डन-मण्डन रूपी शब्द जाल तो चित्त को भटकाने वाला एक महान जंगल है। इसलिये किसी तत्त्वज्ञानी महात्मा से प्रयत्न पूर्वक आत्मतत्त्व को ही केवल जानने की श्रद्धा करना चाहिये।

अस्तु ! आत्माभिलाषी मुमुक्षु को सम्पूर्ण कर्मों एवं भेद उपासना का त्याग कर भव बन्धन की निवृत्ति के लिये किसी सद्गुरु की खोज करनी चाहिये। निष्काम भाव द्वारा कर्म उपासना करने पर मात्र चित्त शुद्धि में ही सहयोगी है, मुक्ति के लिये नहीं। आत्मानुभूति तो ब्रह्मज्ञान द्वारा ही होती है। अन्य किसी प्रकार से नहीं।

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तु उपलब्धये।
वस्तु सिद्धिः विचारेण न किञ्चित् कर्म कोटि भि॥

- वि.चू : ११

अतः आत्म विद्या की प्राप्ति हेतु किसी दयासागर ब्रह्मवेत्ता गुरुदेव की शरण में जाकर जिज्ञासु को आत्मतत्त्व का विचार करना चाहिये। केवल सोऽहम्, सोऽहम्, शिवोऽहम्, शिवोऽहम् शब्द रटने से कोई मुक्त नहीं होता। स्नान, दान एवं सैकड़ों आसन, प्राणायाम करने से भी मोक्ष नहीं मिलता है।

जैसे भली प्रकार विचार से सिद्ध हुआ रस्सी ज्ञान ही अविचार से उत्पन्न सर्प भ्रान्ति को नष्ट करने में एकमात्र साधन है, उसी प्रकार आत्मतत्त्व

के जिज्ञासु को भलीभाँति विजातिय वृत्ति का मन से तिरस्कार कर के सजातिय (आत्माकार) वृत्ति का निरन्तर चिन्तन करते हुए देहभाव, कर्ता-भोक्ता भाव तथा जीव भाव की भ्रान्ति को नष्ट करना चाहिये ।

◆◆◆

साधन चतुष्टय

केवल द्रष्टा आत्मा ही सत्य है तथा दृश्य मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं उनका विषय जगत् अनित्य है । यह नित्यानित्य, सत्-असत्, आत्मा-अनात्मा, जड़-चेतन, द्रष्टा-दृश्य भेद ज्ञान ***विवेक*** नाम से कहा जाता है ।

जीवन निर्वाह के अतिरिक्त सांसारिक विषयों से लेकर ब्रह्मादिक लोक भोग की वासना न होना ही ***वैराग्य*** कहा जाता है ।

सत् चर्चा के समय आत्म चिन्तन के अतिरिक्त सांसारिक विषयों का चिन्तन न करना ही ***शम*** कहलाता है ।

आत्म चिन्तन करते समय सतसंग के अतिरीक्त इन्द्रियों को उनके विषय न देना ही ***दम*** कहलाता है । जैसे माला करना, जप करना, स्वेटर बनाना आदि ।

अपने लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग में जो कष्ट, रूकावट, निन्दा, प्रलोभन, हानि दिखाई पड़े तो भी उसे सहन करते हुए, बिना रूके लक्ष्य की ओर अग्रसर होते रहना ही ***तितिक्षा*** नाम से कहा जाता है ।

सत्गुरु और सत्शास्त्र में सत्यत्व बुद्धि कर अपने कल्याण का पूर्ण विश्वास रखना - इसी को ***श्रद्धा*** कहते हैं ।

कर्म उपासना के फल रूप इस लोक से लेकर ब्रह्मादिक लोकों के भोगों में ग्लानि कर कर्म, उपासना का फल सहित त्याग ही ***उपरामता*** कहाजाता है । मोक्ष प्राप्ति हेतु ज्ञान के लिये सद्गुरु की शरण में जावे ।

सत्य वस्तु आत्मा को संशय रहित एकाग्रता पूर्वक सद्गुरु के अमृत वचनों का श्रवण करना ही ***समाधान*** कहाजाता है ।

अज्ञान कल्पित अहंकार से लेकर देह पर्यन्त समस्त बन्धनों से छूटने की तीव्र इच्छा ही ***मुमुक्षुता*** कही जाती है ।

यदि भोगों में आसक्ति के कारण मुमुक्षुता मन्द है तो भी वेदान्त चिन्तन ही करता रहे । धीरे-धीरे उसकी अनात्म पदार्थों से सुखबुद्धि दूर हो जावेगी बिना वैराग्य और प्रबल मोक्ष इच्छा के जीवन में शम, दम, तितिक्षा, श्रद्धादि साधनों का उसी प्रकार अभाव दिखाई पड़ता है जैसे मरुस्थल में जल ।

अपने स्वरूप का अनुसन्धान करना ही ***भक्ति*** कहलाती है । किसी चित्र मूर्ति की आराधना, पूजा, अपने से भिन्न मानकर करना वास्तविक भक्ति नहीं है ।

स्व-स्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्याभिधीयते ।

उपरोक्त विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता साधन सम्पन्न जिज्ञासु किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ-सद्गुरु की शरण में जाकर उन्हें अपने भव-बन्धन की निवृत्ति हेतु प्रार्थना करना चाहिये ।

◆◆◆

सद्गुरु से प्रार्थना

असतो मा सद्गमय !
तमसो मा ज्योतिर्गमय !!
मृत्योर्मामृतं गमय !!!

हे शरणागत वत्सल, करुणा सागर प्रभो !

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धु श्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वम् मम देव देव ।।

आप को सब ओर से मेरा नमस्कार है । दुःखों के अपार सागर में पड़े, संसार चिन्ताग्नि से तपे हुए अत्यन्त व्याकुल तथा मृत्यु भय से भयभीत हुए मुझ शरणागत की आप रक्षा कीजिये । मैं इस संसार सागर से किस प्रकार पार हो सकुँगा ?

हे गुरुदेव ! मेरा कल्याण किस उपाय से होगा वही दया कर के बतलाईये । मैं अपने बल, बुद्धि इस द्वारा संसार बन्धन से मुक्त होने की जितनी चेष्टा करता हूँ, उतना ही मेरा संसार बन्धन दृढ़ होता चला जाता है । इस प्रकार की प्रार्थना सुनकर वे वेद स्वरूप सद्गुरु उसे वेदान्त तत्त्व का अधिकारी जान उपदेश करने को बाध्य हो जाते हैं ।

◆◆◆

सत्गुरु उपदेश

हे वत्स ! तू धन्य है, कृतकृत्य है, तेरा कुल तुझ जैसे आत्मार्थी को पाकर पवित्र हो गया, क्योंकि तू अविद्या रूपी देह बन्धन से छूटकर ब्रह्मभाव रूप निर्वाण को प्राप्त होना चाहता है ।

मनुष्य अपना ही शत्रु है और अपना ही मित्र होता है । स्वरूप अज्ञान के कारण यह जीव जब आत्मज्ञान का मार्ग छोड़ अनात्म विषय

जगत् में सत्य एवं सुख बुद्धि तथा नश्वर विकारी अपवित्र शरीर में पवित्र बुद्धि कर लेता है । तब यह अज्ञानी अपना ही शत्रु बन अपने को अधोगति में ले जाने का कारण बनता है और जब यह जीव सद्गुरु की शरण में जाकर आत्मज्ञान को प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करता है तब यह अपना ही मित्र बन कल्याण को प्राप्त हो जाता है । अतः निरन्तर सत्य वस्तु निजात्मा में देह के नाम, जाति, लिंग की तरह स्थिर बुद्धि कर संसार सागर से अपना उद्धार करें ।

संसार रूप अग्नि में जलते हुए मानव को शीतलता दिलाने वाला एक ही साधन है, जिसके द्वारा जीव संसार सागर से बिना कष्ट के सहज पार हो जाता है ।

हे जिज्ञासु ! तुझ आत्मा में संसार बन्धन अज्ञान के कारण ही है और उसी से तुझको जन्म-मरण की अपने में भ्रान्ति हो रही है । तू जिस प्रकार अपने मुक्त स्वरूप को पहचान सकेगा, मैं उसी पद्धति से तुझे उपदेश करूँगा । जिसके द्वारा तू श्रद्धा, विश्वास पूर्वक श्रवण, मनन, निदिध्यासन कर सहज ही दुःखों का समूल देहभाव का नाश कर अखंण्डानन्द स्वरूप की प्राप्ति कर सकेगा ।

हे आत्मन् ! तू सच्चिदानन्द स्वरूप साक्षात् ब्रह्म है । तेरे अतिरिक्त कोई संसार नहीं है । न तू उसमें डुब रहा है न तुझे कहीं पार ही जाना है । विवेकी पुरुष को परमात्मा का वास्तविक स्वरूप अपने ही विचार नेत्रों द्वारा जानना चाहिये । किसी अन्य की मुक्ति कथा सुन लेने से हमारे मोक्ष स्वरूप का अनुभव कभी नहीं हो सकेगा । जैसे किसी रोगी को रोग मुक्ति हेतु स्वयं ही औषध सेवन एवं पथ्य पालन करना पड़ता है, दूसरे द्वारा औषध सेवन एवं पथ्य करने से उस रोगी का रोग निवृत्त नहीं होगा । पिता माता के ऋण को चुकाने वाले पुत्रादि भी होते हैं, किन्तु अपने भव-बन्धन भ्रान्ति के छुड़ाने हेतु अपने सिवा और कोई अन्य नहीं हो सकेगा । अज्ञान से अपने

हाथों से बांधे गये, स्वीकार किये गये बन्धन को अपने सिवा कोई अन्य खोलने वाला नहीं है ।

◆◆◆

आत्मा अनात्मा

सद्गुरु की विशुद्ध कृपा से प्राप्त हुए विवेक -विज्ञान रूप ज्ञान तलवार के अतिरिक्त यह बन्धन किसी अस्त्र, शस्त्र, वायु, अग्नि अथवा करोड़ों कर्म कलापों से भी नष्ट नहीं किया जा सकता । जिसका श्रुति प्रमाण्य में दृढ़ निश्चय होता है, उसीकी स्व-धर्म में निष्ठा होती है । उसी निष्काम कर्म द्वारा उसकी चित्त शुद्धि हो जाती है । जिसका चित्त शुद्ध होता है उसीको परमात्मा पाने की जिज्ञासा होती है और इसी ज्ञान से ही उसके संसार रूपी वृक्ष का समूल नाश होता है ।

जो पुरुष अपने असंग और अक्रिय प्रत्यगात्मा को *मूँज में से सींक* के समान दृश्य वर्ग से पृथक् करके तथा सबका उसीमें लय करके आत्मभाव में ही स्थित रहता है- वही मुक्त है । बन्धन की निवृत्ति के लिये विद्वान् को आत्मा और अनात्मा का विवेक करना चाहिये । उसीसे अपने आप को सच्चिदानन्द रूप जानकर यह जीव आनन्दित हो जाता है ।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय - इन पाँचों कोशों से आवृत हुआ आत्मा अपनी ही शक्ति से उत्पन्न हुए शैवाल पटल से ढंके हुए जल के भाँति नहीं भासता । जब उस शैवाल को हटा दिया जाता है तब वह जल सरोवर स्पष्ट प्रतीत होने लगता है । उसी प्रकार पाँचों कोशों को विवेक ज्ञान द्वारा जब अपनी सत्ता से पृथक् जान लिया जाता है; तब पाँचों कोशों का अपवाद करने पर यह शुद्ध, नित्यानन्द, एकरस, अन्तर्यामी, स्वयंप्रकाश परमात्मा स्वरूप- सोऽहम् रूप में भासने

लगता है ।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचारा जाये तो संम्पूर्ण दृश्य प्रपंच को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है । द्रष्टा और दृश्य, चेतन और जड़, स्वयं प्रकाश और पर प्रकाश, क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र, पुरुष और प्रकृति, आत्मा और अनात्मा - इन में एक तत्त्व वह है जो सम्पूर्ण प्रतीतियों का अनुभव करने वाला है और दूसरा तत्त्व वह है जो अनुभव में आता है । इनमें समस्त प्रतीतियों के अन्तिम द्रष्टा को साक्षी या आत्मा नाम से कहा जाता है । नाम, रूप, दृश्य जगत् से लेकर समस्त देह संघात् अनात्म श्रेणी में आते हैं और इन समस्त दृश्य प्रपंच के प्रकाशक चैतन्य को आत्मा नाम से कहा जाता है ।

आत्म तत्त्व नित्य असंग, अखण्ड, निर्विकार, निराकार, एकरस, अचल है । अनात्म तत्त्व, अनित्य, परिच्छिन्न, विकारी, विनाशी, प्रतिक्षण परिवर्तनशील, जड़ है । बुद्धि से लेकर स्थूल भूत पर्यन्त जितना भी प्रपंच है उसका आत्मा से किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है; किन्तु अज्ञान के कारण ही देह और इन्द्रियादि से अहंभाव, तादात्म्य बुद्धि करके अपने को स्त्री, पुरुष, बाल, युवा, प्रौढ़, वृद्ध, जन्म-मृत्यु, सुखी-दुःखी, कर्ता-भोक्ता, बद्ध आदि धर्मवाला जीव अपने को मानता है । इस अध्यास को सद्गुरु की कृपा से दूर कर अपने वास्तविक आत्म स्वरूप में बुद्धि को दृढ़ीभूत करना ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है ।

वस्तुतः तो एक अखण्ड शुद्ध चैतन्य ही सर्वत्र परिपूर्ण है, किन्तु माया (अज्ञान) के कारण ही विभिन्न-सा प्रतीत होता है ।

◆◆◆

ज्ञान अज्ञान

समस्त प्रतीतियों के स्थान पर एक अखण्ड सच्चिदानन्द परमात्मा का अनुभव करना ही ज्ञान है तथा उस सर्वाधिष्ठान आत्मा पर दृष्टि न कर नाम, रूप, मिथ्या जगत् में सत्यत्व बुद्धि करना ही अज्ञान है । जिस प्रकार मिट्टी से बने अनेक आकृति वाले पात्र मिट्टी मात्र ही होते हैं, उसी प्रकार अनेक नाम, रूप, जगत् प्रपंच का आधारभूत एक मात्र आत्मा ही है । इस प्रकार जीव, जगत् व ईश्वर का एकत्व दर्शन, अभेद बोध ही ज्ञान कहलाता है । ***अभेद दर्शनं ज्ञानम्*** । जबतक जीव की बुद्धि में सोऽहम् अर्थात् आत्मबोध जाग्रत नहीं होता, तबतक यह आवागमन के कष्ट से मुक्त नहीं हो पाता । जब जीव को सद्गुरु की प्राप्ति से अपने अखण्ड आत्मा का बोध जाग्रत होता है तब इसकी दृष्टि में इस सत्य - सा प्रतीत होने वाले नाम, रूप, जगत् का अत्यन्ताभाव एवं अदृश्य आत्मा का सर्वत्र भान होने लगता है । तभी यह जीव जगत् में रहते हुए जीवन्मुक्त स्थिति में विचरण करता रहता है ।

साधन की दृष्टि से भगवत् कृपा के द्वारा मनुष्य जीवन एवं निष्काम कर्म द्वारा चित्त शुद्धि के उपरान्त ईश्वर भक्ति ज्ञानोत्पत्ति का प्रधान साधन माना जाता है । भक्ति का स्वरूप आचार्य शंकर विवेक चूड़ामणी में बताते हैं -

स्व-स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ।

अर्थात अपने शुद्ध स्वरूप की खोज करना, स्मरण करना ही भक्ति कहलाती है ।

आत्म जिज्ञासु के लिये वस्तुतः यही प्रधान भक्ति है । जिनका मन प्रथम इस सूक्ष्म निराकार उपासना में नहीं लगता है ऐसे जिज्ञासु को प्रथम किसी सगुण अथवा निगुर्ण ब्रह्म की उपासना करना चाहिये । जब आत्म जिज्ञासा प्रबल जाग्रत हो जावे तब वेद के क्रम समुच्चयानुसार कर्म,

उपासना का भी त्याग करदेना चाहिये । फिर विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति एवं मुमुक्षुता से किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाकर वेदान्त तत्त्व का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करें । वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन के फल स्वरूप अन्तःकरण में ब्रह्माकार वृत्ति का स्फूरण होना ही मोक्ष का साक्षात् साधन है ।

◆◆◆

अनात्मा की सीमा

देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और अहंकार आदि समस्त देह संघात का विकार, सुख-दुःखादि समस्त विषय, आकाश आदि भूत और अव्यक्त पर्यन्त समस्त विश्व - ये सभी अनात्मा हैं । माया, प्रकृति, महतत्त्व, अहंतत्त्व से लेकर देह पर्यन्त माया के संपूर्ण कार्यों को मरू-मरीचिका के समान असत् और अनात्मा जानना चाहिये ।

◆◆◆

विषयासक्ति का त्याग

अपने-अपने स्वभाव के अनुसार शब्दादि पाँच विषयों में से केवल एक-एक से बँधे हुए हरिण, हाथी, पतंग, मछली और भ्रमर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं । फिर इन पाँचों विषयों से जकड़े हुए अविवेकी मनुष्य की दुर्गति होने में तो कोई संदेह ही नहीं । विष तो खाने वाले को ही मारता है; किन्तु यह इन्द्रियों के विषय तो देखने मात्र से उसे घायल कर देते हैं । विषय रूपी विषम मार्ग से चलनेवाले मलिन बुद्धिवाले को पद-पद पर मृत्यु आती है ।

जो विषयों की आशा रूप कठिन बंधन से छूटा हुआ है, वही परम भाग्यवान मोक्ष का भागी होता है । इसके अतिरिक्त चाहे कोई षट् दर्शन का ज्ञाता ही क्यों न हो बिना वैराग्य के मोक्ष असम्भव है । संसार सागर को पार करने के लिये अग्रसर हुए क्षणिक वैराग्यवान् को आशा रूपी मगर अति वेग से बीच में ही डंस लेते हैं । किन्तु जिसने वैराग्य रूपी तलवार से सर्व विषय एषणा रूपी मगर मच्छ को मार दिया है; वही निर्विघ्न संसार समुद्र को पार कर अखण्ड परमधाम को प्राप्त कर पाता है ।

हे मुमुक्षु ! यदि तुझे मोक्ष की वास्तव में जिज्ञासा है तो तू इन आवश्यक विषयों को जीवन निर्वाह हेतु ग्रहण कर । विषयों में जो सुख की लोलुपता है; उसको विष के समान पतन का कारण जान त्याग दे । विष तो एक ही जीवन को ही हरण करता है; किन्तु यह विषय विष तो जीव को चौरासी लाख जन्म-जन्मान्तरों तक इसी दुःख के सागर में डुबाये रखता है । अतः अपने कल्याण हेतु सन्तोष, दया, क्षमा, सरलता, शम और दम का अमृत के समान नित्य आदर पूर्वक सेवन कर ।

◆◆◆

वासना तथा क्रिया

जो पुरुष देह में मैं - बुद्धिवाला होता है वही कामनावाला होता है । उस कामना की पूर्ति न होने पर वह क्रोधित होता है । जिसका देह से पेट भरने जितना सम्बन्ध रहता है वह लोभी नहीं हो सकता । लोभी नहीं होने से सकामी नहीं हो सकता और सकामी नहीं होने से संसार बन्धन को प्राप्त नहीं हो सकता ।

संसार बन्धन को काटने के लिये विषयों की चिन्ता एवं बाह्य क्रिया इन दोनों का नाश करें । वासना के बढ़ने से भोग रूप क्रिया बढ़ती है

और भोग रूप क्रिया के बढ़ने से वासना बढ़ती है । इस प्रकार मनुष्य का संसार बन्धन छूट नहीं पाता है । इस वासना, क्रिया एवं उनसे उत्पन्न होने वाले बन्धन को काटने का एक मात्र उपाय यह है कि सब अवस्थाओं में सब समय, सब ओर, सबको ब्रह्म मात्र देखना चाहिये । इस प्रकार ब्रह्म चिन्तन के दृढ़ हो जाने पर इन तीनों का नाश एक साथ हो जाता है । यह वासना का क्षय ही जीवन्मुक्ति है । क्रिया के नष्ट हो जाने से चिन्ता का नाश होता है । और चिन्ता के नाश से वासनाओं का क्षय होता है ।

सूर्योदय के पूर्व सूर्य की प्रभा के उदय होते ही जैसे अत्यन्त घोर अंधेरी रात का सर्वथा नाश हो जाता है; उसी प्रकार ब्रह्म-वासना की स्फूर्ति का विस्तार होने पर यह देह वासना भी समाप्त हो जाती है । फिर न तो संसार बन्धन रहता है और न दुःख का लवलेश ही बचता है ।

यदि तुम्हारा प्रबल प्रारब्ध अभी भोगने के लिये बाकी है तो इस प्रतीयमान दृश्य का लय करते हुए तथा बाहर भीतर से सावधान रहते हुए अपने सत्तामात्र आनन्दघन स्वरूप का चिन्तन करते हुए समय व्यतीत करें ।

वासना त्याग

मैं ब्रह्म हूँ - इस प्रकार आत्मबोध हो जाने पर भी जिसे मैं कर्ता और भोक्ता हूँ - इस रूप से मन में भावना बनी रहती है; उसके जन्म-मरण बंधन का नाश नहीं होता है । अतः वासना (देह, शास्त्र तथा लोक) का त्याग कर के आत्म स्वरूप में सम्यक् प्रकार से स्थित हो जाना चाहिये । वासना के नाश को ही मुनियों ने मुक्ति कहा है । देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनात्म वस्तुओं में जीव का जो अहं तथा मम भाव है - यही भ्रान्ति ज्ञान है । मुमुक्षु को आत्मनिष्ठा द्वारा इस देहभाव को दूर करना चाहिये ।

अपने आप को बुद्धि और उसकी वृत्तियों का साक्षी जानकर "मैं वही ब्रह्म हूँ" ऐसा निश्चय कर अनात्म वस्तुओं में फैली हुई मैं -बुद्धि का त्याग करे । त्रिवासना के कारण ही जीव को यथार्थ तत्त्वदर्शी सद्गुरु के मिल जाने पर भी सम्यक् प्रकार से ज्ञान नहीं होता है ।

संसार रूप कारागृह से मुक्त होने के लिये मुमुक्षु पुरुष को किसी ब्रह्मवेत्ता पुरुष की शरण में जाना चाहिये; ताकि वे अपने तत्त्वोपदेश द्वारा उसकी वासना त्रय का नाश करा आत्मा का साक्षात्कार करा सके । जो इस वासना त्रय रूप जंजीर से मुक्त हो जाता है वही मुक्ति लाभ करता है । ब्रह्मज्ञानी पुरुष इस प्रबल वासना त्रय को मुमुक्षु के पैरों में पड़ी हुई लोहे की मजबूत बेड़ी बताते हैं । अनात्म वस्तुओं के समूह से आत्मभाव छिप गया है । इसलिये **निरन्तर आत्मनिष्ठा में स्थित रहने से उस अनात्मा से मैं - बुद्धि का नाश हो जाता है और अपना आत्मा मैं रूप से स्पष्ट अनुभव में आने लगता है ।**

जैसे-जैसे मन अर्न्तमुख होता जाता है, वैसे-वैसे ही वह बाह्य वासना को छोड़ता जाता है । जिस समय वासनाओं से पूर्णतया छूटकारा हो जाता है, उस समय आत्मा का प्रतिबन्ध समाप्त हो जाता है । निरन्तर आत्म स्वरूप में मन को लगाये रखने से मन की अनित्य वासनाओं से उपरामता सहज हो जाती है । साक्षी आत्मभाव में स्थित होकर मन को अनात्म वस्तुओं में अहं -मम, मैं-मेरी बुद्धि करने से बचाओ ।

मैं जीव नहीं परब्रह्म हूँ - इस प्रकार अपने में जीव भाव का निषेध करके देह चिन्ता से मुक्त रहो । प्रारब्ध स्वयं देह का पोषण करता है - ऐसा निश्चय करके देह भाव, कर्ता-भोक्ता, जीव भाव का त्याग कर दो । बोधवान मुनि को कोई भी वस्तु ग्राह्य अथवा त्यज्य न होने से कुछ भी कर्तव्य नहीं है । इसलिये निरन्तर आत्मनिष्ठा द्वारा आत्मा में हुए जीव अध्यास को त्यागो । तत्त्वमसि आदि महावाक्य से सूचित हुए ब्रह्म और

आत्मा के एकत्व ज्ञान से ब्रह्म में आत्म-बुद्धि को दृढ़ करने के लिये अपने देहभाव के अध्यास को दूर करें । श्रुति, युक्ति और अपने अनुभव से आत्मा की सर्वात्माता को जानकर अपने से पृथक् ब्रह्म का भेद भाव मन से मिटा दो । आत्मबुद्धि को दृढ़ करने के लिये सोऽहम् चिन्तन करते चलो ।

इस देह में जो अहंभाव (मैं पन) हो रहा है, उस का जबतक पूर्णतया लय न हो जाये, तब तक सावधानता पूर्वक युक्त चित्त से अपने जीव-भाव को दूर करो । माता -पिता के रज-वीर्य रूप अति निकृष्ट मल से उत्पन्न शरीर में अहं भाव को चाण्डाल के समान दूर से ही त्याग कर ब्रह्मभाव में स्थित हो कर कृत-कृत्य हो जाओ ।

जबतक जीव और जगत् की प्रतीति हो रही है तबतक आत्मचिन्तन करते रहो । जाग्रत काल में लौकिक बातचित के समय या देह निर्वाह के लिये नौकरी, व्यापार, कार्य करते समय आत्म विस्मृति न करें, अर्थात् स्वरूप अनुसन्धान को न भूल कर अपने अन्तःकरण में निरन्तर अपनी आत्मा का ही चिन्तन करते रहो ।

हे आत्मन् ! जैसे घट का नाश होने पर घट स्थित आकाश मठ स्थित आकाश में एकत्व को प्राप्त हो जाता-सा प्रतीत होता है और मठ के नष्ट होने से मठाकाश पूर्व स्थित महाकाश के साथ अभिन्नता को प्राप्त होता सा-प्रतीत होता है; इसी प्रकार जीवभाव को परमात्मा में लीन करके सर्वदा अखण्ड ब्रह्मभाव से मौन होकर स्थित रहो ।

स्वप्न के समान असत जगत् और जीव के अधिष्ठान परब्रह्म है । उस सर्वाधिष्ठान ब्रह्म से एकी भाव होकर पिण्ड और ब्रह्माण्ड इन दोनों उपाधियों को मल से भरे हुए बर्तन की तरह त्याग दो । देह में व्याप्त हुई अहं बुद्धि और सूक्ष्म शरीर में व्याप्त जीव बुद्धि छोड़कर नित्यानन्द स्वरूप

चिदात्मा में सर्वदा स्थित रहो ।

जिससे यह जगत् आभास दर्पण में प्रतिविम्बित नगर के समान प्रतीत हो रहा है - वह ब्रह्म ही मैं हूँ - ऐसा जान लेने पर तुम कृतकृत्य हो जाओगे । हे जिज्ञासु ! तू अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप को जानकर बहुरूपियों के समान धारण किये इस शरीर रूप मिथ्या वेश में से मैं- बुद्धि को त्याग सुखी हो जा ।

◆◆◆

वैराग्य का स्वरूप

ब्रह्मनिष्ठ विरक्त पुरुष इन्द्रियों के शब्दादि बाह्य विषय एवं अहंकारादि अन्तःकरण की वृत्तियों में *मैं-मेरा* भाव नहीं करता है । वैराग्य और बोध- इन दोनों को पक्षी के दोनों पंखों के समान मोक्षाकामी पुरुष के पंख समझो । इन दोनों पंखों में से किसी भी एक के बिना कोई मुक्ति रूपी महल की अटारी पर चढ़ नहीं सकता । अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिये वैराग्य और ज्ञान दोनों आवश्यक हैं ।

अत्यन्त वैराग्यवान को समाधि लाभ होता है । समाधिस्थ पुरुष को ही दृढ़ बोध होता है तथा वही संसार बन्धन से छूटता है । और उसीको नित्यानन्द का अनुभव होता है । जितेन्द्रिय पुरुष को सर्वत्र सुख की अनुभूति होती रहती है । विषय वासनावाले को ही सर्वदा अभाव एवं दुःखानुभूति होती रहती है । इसीलिये हे जिज्ञासु ! तुम अपने कल्याण के लिये सब ओर से इच्छा रहित हो कर सदा सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही अपनी बुद्धि स्थिर करो ।

विषय को विष के समान जान कर विषयों से सुख की आशा छोड़

जीवन निर्वाह के लिये उचित आहार, कर्म एवं विश्राम करें । इन्द्रिय विषयों में सुख बुद्धि अधःपतन का मार्ग है । अतः मुमुक्षु को चाहिये कि वह देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनात्म पदार्थ में आत्म बुद्धि अर्थात् मैं-भाव का त्याग कर नाम, जाति, आश्रम, आदि का अभिमान छोड़कर आत्मा में ही मैं-बुद्धि, अहंबुद्धि करें; क्योंकि तुम तो वास्तव में इन सब के द्रष्टा और द्वैत से रहित परब्रह्म हो ।

◆◆◆

देहासक्ति ही बन्धन

जो अनादि अविद्याकृत बंधन से मुक्त होना अपना कर्तव्य नहीं समझकर प्रतिक्षण पशु की तरह इस देह, इन्द्रिय के भोग संग्रह में ही लगा रहता है वह अपना ही हनन करनेवाला आत्म हत्यारा, आत्मघाती कहलाता है । जो शरीर पोषण में लगा रहकर आत्मतत्त्व को जानना चाहता है वह तो ऐसे मूर्ख है जैसे कोई ग्राह (मगर) को काष्ठ समझकर नदी पार करना चाहता है ।

त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु, मेद, मज्जा और हड्डियों के समूह तथा मल, मूत्र से भरे हुए अति निन्दनीय, अपवित्र, रज-वीर्य आदि धातु से बने अति अधम इस शरीर में अहंकार करना जीव के बन्धन का हेतु है । विकारी, विनाशी मल रूप शरीर में मूढ़ पुरुष ही अहं बुद्धि कर असहनीय दुःख को भोगता है । देह, स्त्री, पुरुष, पुत्र, धनादि से मोह छोड़े बिना कोई परम पद को प्राप्त नहीं कर सकता ।

◆◆◆

भजन

मन आतम में जोड़ो रे भैया,
मन आतम में जोड़ो रे ।।टेक।।

देह मन्दिर में ब्रह्म पुकारे,
इधर उधर मत दोड़ो रे ।
जड़ मूरत के आगे रो रो,
काहे आखियाँ फोड़ो रे ।।१।।

देह भाव है जब तक मन में,
खावे यम के कोड़े रे ।
विषय जगत् से मन घोड़े को,
गुरु द्वार को मोड़ो रे ।।२।।

गुरु समर्पित होकर भैया,
भव बन्धन को तोड़ो रे ।
मेरा-मेरा जो कुछ है सब,
ममता उससे छोड़ो रे ।।३।।

स्वप्न समान इस मिथ्या जग के,
सब अभिमान को छोड़ो रे ।
दासोऽहम् से ऊपर उठकर,
सोऽहम् भाव में जोड़ो रे ।।४।।

शुद्ध, असंग, मुक्त है तू तो,
दुःख बन्धन नहीं थोड़ो रे ।
कहे 'निरंजन' मानरे मनुवा,
स्वयं ब्रह्ममें जोड़ो रे ।।५।।

प्रमाद

ब्रह्म विचार में कभी प्रमाद असावधानी नहीं करना चाहिये । क्योंकि प्रमाद मृत्यु है - ऐसा ब्रह्मा के पुत्र सनत् कुमार ने कहा है । विचारवान् पुरुष के लिये अपने स्वरूप अनुसन्धान, आत्म चिन्तन में प्रमाद करने से बढ़कर और कोई अनर्थ नहीं है । क्योंकि इसी से मोह होता है और मोह से अहंकार, अहंकार से बन्धन तथा बन्धन से क्लेश की प्राप्ति होती है ।

जिस प्रकार कुलटा स्त्री अपने जार प्रेमी की बुद्धि को भ्रष्ट कर उसको प्रेम में पागल बना देती है; उसी प्रकार विद्वान् पुरुष को भी विषयों में प्रवृत्त होने से आत्म विस्मृति होने के कारण बुद्धि दोषों से विक्षिप्त हो जाती है । आत्म विचार हीन को संसारी विषय भोग उसी प्रकार आ कर घेर लेते हैं, जैसे सरोवर के ऊपर छाये हुए शैवाल को जल पर से हटाते ही तत्काल वह शैवाल पुनः जल को ढक लेता है ।

इस आत्मा के प्रतिविम्ब रूप चिदाभास जीव से अहं-बुद्धि को शीघ्र ही त्याग दो । इसके अध्यास से ही तुझ चैतन्य आनन्द विम्ब स्वरूप परमात्मा को जीव के जन्म-मरण, जरा-व्याधि, सुख-दुःख, शोक-मोह आदि दुःखों से पूर्ण यह संसार बन्धन रूप प्राप्त हुआ है । नित्य मुक्त, नित्य शुद्ध अपने स्वरूप में भ्रान्ति हो रही है । इस अहंकार रूप अध्यास के बिना यह एक रस, व्यापक, आनन्द स्वरूप, पवित्र अविकारी चिदात्मा को किसी प्रकार संसार बन्धन की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

इस अहंकार की कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि वृत्तियों को हटाकर राग रहित होकर आत्मानन्द के अनुभव से ब्रह्मभाव में पूर्णतया स्थित हो कर निर्विकल्प और मौन हो जाओ ।

◆◆◆

प्रारब्ध विचार

आत्मचिन्तन में लगे हुए ज्ञानी पुरुष को भी बाह्य पदार्थों के लिये प्रवृत्ति होती देखी जाती है एवं फल भोग भी उसके जीवन में देखा जाता है । श्रुति उस भोग के हेतु उस ज्ञानी का पूर्व प्रारब्ध कर्म ही बतलाती है । जबतक सुख-दुःख आदि का अनुभव है तबतक प्रारब्ध माना जाता है; क्योंकि कोई भी सुख-दुःख का भोग पूर्व कर्मानुसार ही प्राप्त होता है । बिना किये कर्म का फल भोग कभी नहीं होता है । जाग्रत हो जाने पर जैसे स्वप्नावस्था के कर्म लीन हो जाते हैं, वैसे ही *''मैं ब्रह्म हूँ''* ऐसा ज्ञानोदय हो जाने से करोड़ों कल्पों के संचित् कर्म उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार करोड़ों वर्षों का अन्धकार गुफा में प्रकाश करते ही लीन हो जाता है । स्वप्नावस्था में जो बड़े से बड़ा दुष्कर्म अथवा पुण्य कर्म हो जाता है, जाग्रत हो जाने पर वह स्वप्न अवस्था के आभास रूप कर्म, स्वप्न देखने वाले द्रष्टा पुरुष को स्वर्ग अथवा नरक की प्राप्ति का कारण नहीं होता है; इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष के द्वारा जाग्रत काल के कर्म भी आभास मात्र निर्वीज ही होते हैं ।

जो योगी अपने को आकाश के समान असंग जान लेता है वह उदासीन हुआ किसी भी आगामी कर्म से थोड़ा सा भी लिप्त नहीं हो सकता । जैसे घड़े में रखी हुई मदिरा की गन्ध से घड़े स्थित आकाश का कोई सम्बन्ध नहीं होता । उसी प्रकार उपाधि के सम्बन्ध से आत्मा देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि उपाधियों के धर्म से विकारी नहीं होता ।

लक्ष्य की ओर छोड़े हुए वाण के समान ज्ञान के उदय होने से पूर्व ही जिन कर्मों के भोग स्वरूप यह वर्तमान शरीर उत्पन्न हो चुका है, बिना कर्म फल भोग हुए यह शरीर ज्ञान से नष्ट नहीं होता । ज्ञानी-अज्ञानी सबका प्रारब्ध कर्म अवश्य ही बलवान होता है और उसका क्षय भोगने से ही होता

है । जैसे दशरथ द्वारा मृग समझकर छोड़ा गया बाण श्रवण कुमार को लग जाने से बीच में रोका नहीं जा सका । वह तो तुरन्त अपने लक्ष्य को बेंध कर ही शान्त हो सका । जो ब्रह्म और आत्मा की एकता को जानकर सदा उसी भाव में स्थित रहने वाले हैं, उन ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में तो प्रारब्ध, पूर्व संचित और आगामी कर्मों का तो तत्त्वज्ञान रूप अग्नि से क्षय हो जाता है । ज्ञानी की दृष्टि से प्रारब्ध कर्म भी नहीं है; वे तो मानो साक्षात् निगुर्ण ब्रह्म ही है ।

जो मुनि श्रेष्ठ देह संबन्ध को छोड़ कर केवल ब्रह्मात्मभाव से ही अपने स्वरूप में स्थित रहता है; उसके प्रारब्ध कर्मों के भोग स्थिति की बात उसी प्रकार है जैसे स्वप्न में देखे एवं भोगे हुए पदार्थों से जाग्रत हुए पुरुष का सम्बन्ध बताने के समान अनुचित है । जागा हुआ पुरुष स्वप्न के प्रतिभासिक देह तथा उस देह से हुई किसी भी प्रकार की क्रिया में कभी अहंता-ममता अर्थात् मैं मेरा पन नहीं करता । वह तो केवल असंग भाव से ही रहता है । उसको न तो मिथ्या वस्तुओं को सिद्ध करने की इच्छा होती है और न उसके पास सांसारिक पदार्थों का संग्रह ही देखा जाता है । फिर भी यदि उसकी मिथ्या पदार्थों में आसक्ति सहित प्रवृत्ति हो तो यह निश्चय है कि वास्तव में उसकी नींद टूटी ही नहीं है । इस प्रकार ब्रह्मभाव में रहनेवाला पुरुष सदा ब्रह्म रूप से ही स्थित रहता है । वह ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता । जैसे स्वप्न में देखे हुए पदार्थों की याद आया करती है, वैसे ही विद्वान् की भोजन, शयन आदि क्रियाएँ स्वभाव वश अपने आप हुआ करती है ।

वर्तमान देह जीव के पूर्व संचित् कर्मों से ही बना हुआ है, अतः प्रारब्ध भी उस देहाभिमानी जीव का ही समझना चाहिये । अनादि आत्मा का प्रारब्ध मानना ठीक नहीं है; क्योंकि आत्मा कर्मों से बना हुआ नहीं है । वह तो समस्त कर्मों का साक्षी असंग, निष्क्रिय, एकरस है ।

आत्मा अजन्मा, नित्य, अनादि-अनन्त, अखण्ड, एकरस है। ऐसा यथार्थ बोध हो जाने पर उसमें स्थित रहने वाले विद्वान के प्रारब्ध कर्म शेष रहने की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रारब्ध तो तभी तक सिद्ध होता है जबतक देह में आत्म भावना रहती है और देहात्मभाव मुमुक्षु के लिये इष्ट नहीं है। इसलिये ज्ञानी पुरुषों को प्रारब्ध की आस्था को भी मन से छोड़ देना चाहिये। वास्तव में शरीर का प्रारब्ध मानना भी भ्रान्ति है; क्योंकि वह तो स्वयं अध्यस्त है। भ्रम से आत्मा में कल्पित माना हुआ है और अध्यस्त वस्तु की सत्ता ही कहाँ होती है ? फिर जिस की सत्ता ही न हो, उसका न जन्म है, न कर्म, न नाश है और न प्रारब्ध। इस प्रकार जो सर्वथा सत्ता शून्य है, उस शरीर का भी प्रारब्ध मानना भ्रम मात्र है।

प्रारब्ध जैसी कोई अवस्था आत्मदृष्टि से नहीं है। ज्ञानवान के शरीर को देखनेवाले अज्ञानी मूर्ख को यह शंका होती है कि यदि ज्ञान से अज्ञान का मूल सहित नाश हो जाता है तो ज्ञानी का यह स्थूल देह नष्ट क्यों नहीं हुआ। अर्थात् यह मर क्यों नहीं गया ? तब उस मूर्ख को समझाने के लिये श्रुति कहती है कि अभी उसकी लेश अविद्या बाकी है। इसी कारण उसका शरीर टिका हुआ है। लेशाविद्या नष्ट होते ही उसका विदेह मोक्ष हो जावेगा। यह विद्वान के प्रारब्ध की सत्यता समझाने के लिये नहीं कहा।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसातत्कुरुते तथा ॥ - गीता : ४/३७

जैसे प्रज्वलित अग्नि ईन्धनों को भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि ज्ञानी पुरुषों के समस्त कर्मों को भस्मसात कर देता है। ज्ञानी वह नहीं जो अपने को देह माने, प्रत्युतः वह जो अपने को असंगात्मा जाने।

◆◆◆

विकल्प जगत्

जो कहा तो जा सके, किन्तु जिसे खोजा नहीं जा सके; जो सत्ताहीन नाम मात्र हो उसे विकल्प कहते हैं । जैसे किसी वस्तु, स्थान, व्यक्ति का नाम खोजने से मिलता नहीं, बस वाचारम्भण याने कहने मात्र का है । मनुष्य की छाया के समान केवल आभास रूप से दिखलायी देनेवाले, इस शरीर का शव के समान एकबार बाध कर देने पर नित्य, निर्मल, निर्विकार, चिदानन्दघन स्वरूप का ही बुद्धि में दृढ़ता से निश्चय करें और अपने सहज स्वरूप को प्राप्त करके इस मल रूप जड़ देह संघात को दूर से ही सर्वथा त्याग दो । फिर इसकी कभी याद भी मत करो । एक बार थूक दी गई वस्तु को कोई भी विद्वान् पुनः ग्रहण नहीं करता । विचारवान् श्रेष्ठ महात्मा जन इस स्थूल-सूक्ष्म जगत् को इसके मूल कारण माया सहित निर्विकल्प सत्स्वरूप ब्रह्माग्नि याने विचार अग्नि में भस्म करके फिर स्वयं नित्य विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप से स्थित रहते हैं ।

जैसे गाय या हाथी के गले में पड़ी माला रहने अथवा गिरने का उन्हें कुछ भी भान नहीं रहता ह; इस प्रकार ब्रह्मभाव में लीन रहने वाले ज्ञानी का प्रारब्ध की डोरी में पिरोया हुआ शरीर- सौ वर्ष रहे या आज अभी चला जावे - इसकी ओर वह नहीं देखता । जैसे दूध की इच्छा है वह गौ के घास-पानी की व्यवस्था करता है । इसी तरह जिस मुमुक्षु को ब्रह्मानन्द मुक्ति की जिज्ञासा है वह उन तत्त्ववेत्ता के जीवन निर्वाह की चिन्ता करते हैं । किन्तु जिन महात्मा की चित्त वृत्ति ब्रह्मानन्द स्वरूप में स्थित हो गई है वे इस देह की चिन्ता नहीं करते । जो अखण्ड आनन्द स्वरूप आत्मा को ही अपना स्वरूप जानते हैं कि ''मैं ब्रह्म हूँ'' फिर ऐसा जान लेने पर किस इच्छा से तत्त्ववेत्ता देह चिन्ता करे ?

◆◆◆

प्रपंच का बाध

हे आत्मन् ! अपने स्वरूप पर आरोपित समस्त कल्पित वस्तुओं का अस्वीकार यानी अपवाद कर देने पर नेति-नेति की अवधि रूप जो सत्ता शेष रहती है - वह स्वयं प्रकाश अद्वितीय, अक्रिय, पूर्ण परब्रह्म मैं ही हूँ । जैसे सुषुप्ति अवस्था में जीव, ईश, मनुष्य, कर्ता-भोक्ता, गुरु-शिष्य, बन्ध-मोक्ष आदि किंचित् भी द्वन्द्व नहीं रहता अथवा निराकार निर्विकल्प परब्रह्म दर्पण में चित्त वृत्ति के स्थिर हो जाने पर यह नाम, रूपवाला शरीर कहने मात्र को रह जाता है । उस समय यह दृश्य वाणी की बकवाद् (विकल्प) केवल वाचारम्भण मात्र ही रह जाता है । उस एक वस्तु ब्रह्म में यह संसार मिथ्या वस्तु के सदृश कल्पना मात्र है । भला निराकार, निर्विकार, अखण्ड, अद्वय, निर्विशेष वस्तु में भेद कहाँ से आ सकेगा ? निजात्म स्वरूप में द्रष्टा-दर्शन-दृश्य आदि भावों का स्थान नहीं है ।

प्रकाश में जैसे अन्धकार लीन हो जाता है वैसे ही जिस में भ्रम का कारण अज्ञान लीन होता है, उस अद्वितीय, निर्विशेष अत्यन्त परिपूर्ण परम ज्ञान तत्त्व में भेद का स्थान कहाँ ? क्या कभी सुख स्वरूप सुषुप्ति में किसीने विभिन्नता देखी है ? परम तत्त्व को जान लेने के बाद सत्स्वरूप निर्विकल्प, अखण्ड, अद्वय, आत्मसत्ता में तीनों कालों में विश्व का कोई पता नहीं चलता है । जैसे रस्सी में सर्प तीनों कालों में भी नहीं होता, प्रत्युतः अधिष्ठान रज्जु से अध्यस्त सर्प वस्तु की अभिन्नता ही है । इसी तरह आत्म अधिष्ठान से अध्यस्त जगत् किंचित भी भिन्न नहीं है । अतः जगत् चिन्तन को त्याग कर केवल परमात्मा का ही सोऽहम् भावना द्वारा श्रद्धा भक्ति पूर्वक चिन्तन करना ही वेद के तात्पर्य को जानना है ।

अपने स्वरूप में चित्त को स्थिर करके अखण्ड आत्मा का साक्षात्कार करो । संसार गन्ध से युक्त बन्धन को काट डालो और यत्न पूर्वक अपने मनुष्य जन्म को सफल करो । समस्त उपाधियों से रहित बुद्धि के साक्षी का 'सोऽहम्'' वही मैं हूँ - इस प्रकार चिन्तन करते रहो ; इससे

तुम फिर संसार चक्र में नहीं पड़ोगे ।

◆◆◆

अध्यास से जीव को बन्धन

पुरुष का अनात्म देहादि वस्तुओं में अहम् अर्थात् मैं पन का होना ही जन्म-मरण रूपी क्लेशों की प्राप्ति करनेवाला अज्ञान के कारण वह जीव इस असत् शरीर में आत्म बुद्धि करके इसका विषयों द्वारा पोषण मार्जन और रक्षण करता रहता है । मूढ़ पुरुष अज्ञान के कारण अनित्य एवं दुःख रूप देह में सत्य एवं सुख बुद्धि कर दुःख भोगता रहता है । विवेक न होने से ही रज्जु में सर्प बुद्धि होती है; इसी तरह मंद बुद्धिवाले अज्ञानी को ही नाना प्रकार के अनर्थों का समूह देहभाव आ घेरता है । अतः हे आत्मन् ! यह असत् देहादि संघात में सत्य बुद्धि करना ही बंधन है और इन देहादि असत् पदार्थों को अपने से भिन्न दृश्य रूप जान अपने को असंग, द्रष्टा, साक्षी रूप जानना ही जीवन मुक्ति है ।

अखण्ड, नित्य और अद्वैत बोध-शक्ति से स्फुरित होते हुए अखंड ऐश्वर्य सम्पन्न आत्मतत्त्व को यह माया शक्ति इस प्रकार ढँक लेती है जैसे सूर्य मंड़ल को राहु । अति निर्मल, तेजोमय, आत्मतत्त्व के अज्ञान से ही पुरुष अनात्म देह को - मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं जवान हूँ, मैं बुढ़ा हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं लम्बा हूँ, मैं छोटी हूँ, मैं मोटी हूँ, मेरा जन्म हुआ, मैं मर जाऊँगा - ऐसा मानने लग जाता है । तब रजोगुण की विक्षेप शक्ति इस जीव को काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अपने बन्धनकारी गुणों से व्यथित करने लगती है । फिर यह जीव विषय विष से भरे इस अपार संसार समुद्र में मोह ममता कर देहादि में मैं-भाव करता हुआ नाना योनियों का दूःख भोगता हुआ भ्रमता रहता है । जिस प्रकार सूर्य के तेज से उत्पन्न हुई मेघमाला सूर्य को ही ढँक कर स्वयं फैल जाती है, उसी प्रकार आत्मा से

प्रकट हुआ अहंकार, आत्मा को ही आच्छादित कर स्वयं देहादि अनात्म वस्तुओं में मैं-भाव कर स्थित रह जाता है । फिर बुद्धि के निरन्तर तमोगुण से आवृत होने पर मूढ़ पुरुष को विक्षेप शक्ति नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित करती रहती है । इन आवरण एवं विक्षेप शक्तियों से ही पुरुष को बन्धन की प्राप्ति हुई है और इन्हीं से मोहित होकर यह देहादि अनात्म दृश्य पदार्थों में आत्मबुद्धि कर संसार चक्र में भ्रमता रहता है ।

इस ससांर रूपी वृक्ष का बीज अज्ञान है । देहात्म बुद्धि उसका अंकुर है, राग पत्ते हैं, कर्म जल से यह बढ़ता है, शरीर स्तम्भ तना है, प्राण शाखाएँ हैं, इन्द्रियाँ उपाशाखाएँ हैं, विषय पुष्प हैं और नाना प्रकार के कर्मों से उत्पन्न हुआ दुःख इस वृक्ष में लगे फल हैं तथा जीव रूपी पक्षी ही उसका भोक्ता है । आत्मा साक्षी इस वृक्ष पर बैठा दूसरा पक्षी है । यह अज्ञान जनित अनात्म बंधन अनादि एवं स्वभाविक है । यही जीव के जन्म-मरण, व्याधि और वृद्धावस्था आदि दुःख उत्पन्न करने का कारण है । हे आत्मन् ! तू अनित्य नश्वर षड् विकारी देह नहीं है - ऐसा निश्चय से जान ।

◆◆◆

अहं पदार्थ

यह दृश्य जगत् सर्वथा मिथ्या ही है । इसकी क्षणिकता देखी जाती है, इसलिये यह नित्य आत्मा नहीं हो सकता । आत्मा अहंकारादि समस्त अनित्य दृश्य का साक्षी है । आत्मा तीनों अवस्था, पंच कोशों से भी पृथक् एवं उनका प्रकाशक है । श्रुति कहती है : ***अजो नित्यः*** । अतः प्रत्यगात्मा सत्-असत् से विलक्षण है । अहंकारादि विकारी वस्तुओं के समस्त विकारों को जानने वाला नित्य तथा अविकारी है । जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति काल में मुझ प्रत्यगात्मा का अभाव नहीं होता; किन्तु सुषुप्ति

अवस्थामें स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों का अभाव सब को स्पष्ट देखने में आता है ।

इसलिये इस मांस पिण्ड और बुद्धि कल्पित अभिमानी जीव में अहं बुद्धि छोड़ो और अपने आत्मा को तीनों कालों में अबाधित, अखण्ड ज्ञान स्वरूप जानकर शान्ति लाभ करो । इस मांस के पिण्ड रूप शरीर के आश्रित रहनेवाले कुल, गोत्र, नाम, रूप और आश्रम का अभिमान छोड़ो तथा कर्तापन-भोक्तापन, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख, चंचल-शान्त, ज्ञान-अज्ञान तथा बन्ध-मोक्षादि सूक्ष्म शरीर के धर्मों को भी त्यागकर आनन्द स्वरूप हो जाओ ।

◆◆◆

ध्यान नहीं ज्ञान

अधिकांश साधक यही भ्रान्ति में पड़े हैं कि केवल ध्यान के द्वारा आत्म साक्षात्कार हो सकेगा किन्तु आत्म ब्रह्म ध्यान का विषय नहीं हो सकता । ध्यान के द्वारा बन्धन की निवृत्ति या परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता । परमात्मा के लिये ध्यान साधन मानेंगे तो फिर **'आर्चायवान पुरुषो वेद'**, **'तद्विद्धि प्रणिपातेन'** आदि वाक्यों का अर्थ ही क्या होगा । सद्गुरु कृपा पात्र मुमुक्षु ही परमात्मा को जान सकता है, सद्गुरु के बिना भव सागर से कोई भी पार नहीं हो सकता, उस आत्म साक्षात्कार हेतु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में गये बिना मुक्ति का अन्य मार्ग अर्थात् साधन नहीं है । यदि होता तो **'तद्विज्ञानार्थ स गुरुमेवा भिगच्छेत'** आदि वेद वचन एवं गुरु परम्परा व्यर्थ हो जावेंगे ।

देश,काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न ब्रह्म सत्ता है । ध्यान अपने से भिन्न देखी गई साकार वस्तु या व्यक्ति का ही हो सकता है । ध्यान के लिये

ध्येय व ध्याता में देश का अन्तर होना आवश्यक है । जिसकी सब देश, काल, वस्तु रूप में अवस्थिति है उसका ध्यान नहीं हो सकता । परमात्मा ध्येय वस्तु नहीं है जो उसका ध्यान हो सके । निराकार, अखण्ड, सर्व व्यापक वस्तु का ध्यान नहीं, ज्ञान ही हो सकता है ।

जब ध्याता व ध्येय के मध्य देश, काल, वस्तु, का व्यवधान होगा, भिन्नता या दूरी होगी तभी ध्याता द्वारा ध्येय का ध्यान सम्भव हो सकेगा । ध्याता से ध्येय के दूर या समीपस्थ हुए बिना ध्यान नहीं हो सकता । आत्मा सर्वदेश, काल, वस्तु भेद रहित, अपरिच्छिन्न, अखण्ड होने, ध्याता व ध्येय के बीच दूरी न होने के कारण उसका ध्यान नहीं हो सकता ।

ध्यान कर्ता को अपने ध्येय वस्तु के एक देश में रहने की धारणा करना पड़ता है । राम, कृष्ण, शिव, गणेश आदि की तरह जब उन्हें किसी एक आकार में उपस्थित किया जावेगा तभी ध्यान हो सकता है । आत्मा देश, काल, वस्तु, भेद से मुक्त निराकार, व्यापक, अपरिच्छिन्न है । इसलिये आत्मा ध्यान का विषय नहीं है । ध्यान द्वारा आत्म साक्षात्कार नहीं हो सकता । ध्यान एकमात्र चित्त एकाग्रता का साधन है ।

विचारे ! ध्यान योग, समाधि योग, भक्ति योग, कर्म योग आदि साधन स्वयं प्रकाश है या पर प्रकाश ? मालूम पड़ा कि सभी योग करने से होते हैं । इसलिये पर-प्रकाश है । तब परप्रकाश ध्यान, समाधि आदि साधनों से स्वयं प्रकाश, नित्य सिद्ध आत्मा की सिद्धि हेतु प्रयास करने की किंचित् भी आवश्यकता नहीं । जो पहले से ही मुक्त है, किन्तु वह भ्रम से अपने को अमुक्त मानता है तो उसके उस भ्रम की निवृत्ति अन्य कोई ध्यान, योग या कर्म आदि साधनों द्वारा नहीं हो सकेगी ।

चित्त की एकाग्रता रूप समाधि तथा चित्त की विक्षेप रूप असमाधि

दोनों का द्रष्टा अपने को जानना यही परम समाधि है । मन के चंचल-शान्त होने से साक्षी में विकार नहीं होता है । मन की चंचलता को साक्षी अपने में मानने लगे तो यह उसका अज्ञान कहलावेगा ।

प्रत्येक वस्तु के ज्ञान में ध्यान तो स्वतः होता ही रहता है । बिना ध्यान के कोई वस्तु का ज्ञान हो ही नहीं सकता । यह बात दूसरी है कि वह ज्ञान एक क्षण के लिये या कुछ देरी के लिये । किन्तु दूसरी वस्तु विषय सम्मुख आते ही ध्यान उस पर चला जाता है । ध्यान अखण्ड ही रहता है । केवल ज्ञान का विषय ही बदलते रहते हैं । इस प्रकार एकाग्रता रूप ध्यान पशु, पक्षी, बच्चे, युवा, बुढ़े, सभी की सहज स्वतः सिद्ध स्थिति है ।

आत्मा से भिन्न परमात्मा कोई दृश्य, ज्ञेय, ध्येय, प्रमेय रूप हो तब तो ध्यान बने; किन्तु जहाँ एक अद्वयात्मा अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं वहाँ कौन किसको किससे देखे, जाने ? केवल अद्वैत समझाने हेतु ही प्रथम कार्य-कारण, द्रष्टा-दृश्य विवेक कराया जाता है ।

जहाँ ब्रह्म को **ज्ञानं ज्ञेयं** कहा गया है वहाँ अन्य रूप से नहीं बल्कि मैं ही सर्वाधिष्ठान ब्रह्म हूँ-इस प्रकार ज्ञान करने का भाव है । उसमें मन, बुद्धि की गति नहीं है । जहाँ आत्मा का दर्शनीय कहा है वहाँ दर्शन का अर्थ दृश्य रूप से देखने में नहीं; बल्कि वह आत्मा मैं हूँ - इस रूप से जानने में हैं ।

आत्मा साध्य नहीं है । साध्य वस्तु भिन्न होने से नाशवान है । आत्मा दर्शनीय वस्तु नहीं है । आत्मा में ध्याता-ध्यान-ध्येय रूप त्रिपुटी नहीं है; बल्कि साध्य-साधन-साधक त्रिपुटी का लय है । जो सब का विज्ञाता है उसे किस प्रकार कोई देखे, जाने एवं स्पर्श करे ?

ध्यान में उसे देखो जिसके प्रकाश में सब कुछ भावाभाव

आता जाता है, जो ध्यान का भी प्रकाशक है । ध्यान के प्रथम, ध्यान के मध्य तथा ध्यान के अन्त में भी विद्यमान है । वह स्वयं सिद्ध, स्वयं प्रकाश, सर्व प्रकाशक, सर्व अधिष्ठान, स्वात्मा ही है । वह जो मन में धर्म रूप ध्यान के लगने न लगने को सिद्ध करता है, प्राण की क्रिया रूप योग का द्रष्टा है वह चैतन्य आत्मा मैं ही हूँ - ऐसा जानना ही वास्तविक ध्यान है । ध्यान यही रहे कि मेरे लिये ध्यान कर्तव्य नहीं है । समाधि यही है कि मैं नित्य निर्विकल्प समाधिस्थ ही हूँ । यही सहज ध्यान, सहज समाधि है या सहज स्थिति है ।

जिस को ध्यान करने से सुख एवं मन चंचल से दुःख हो वे ध्यान समाधि साधन करें । परन्तु मुझ आकाशवत् असंग आत्मा को वायु रूप मन के स्फुरण अथवा शान्त होने से हर्ष-शोक नहीं । जो वायु रूप मन के चंचल एवं शान्त होने से आकाश रूप आत्मा को हर्ष-शोक माने तो वह अज्ञानी ही है । मैं निर्विकल्प, अंसग निर्विकल्प पूर्ण चैतन्य आत्मा को समाधि विक्षेप स्पर्श नहीं करते । वह मन के धर्म है । मन के धर्म मन को सुख-दुःख देते हैं; मुझ असंग आत्मा को नहीं ।

◆◆◆

दशम द्वार

प्रायः हठ योगी दशम द्वार पर प्राण चढ़ाने से भगवान के दर्शन हो जावेंगे ऐसा वे ध्यानी मानते हैं । इस प्रकार उनकी धारणा से उनके भगवान सर्वत्र नहीं है । जिसका दशम द्वार में मिलन होता है वहाँ से नीचे आते ही उससे वियोग भी मानना होगा । फिर ऐसा एक देशीय भगवान नित्य न होकर अनित्य ही सिद्ध होगा । जो परिच्छिन्न होता है वह सदा दृश्य जड़ विकारी विनाशी ही हुआ करता है । जिसकी योग से प्राप्ति होती है उसका

अयोग से वियोग भी अवश्य होगा । जिसके द्वारा पूरक, रेचक, कुम्भक, प्राणायाम, ध्यान, समाधि, विक्षेप आदि जाने जाते हैं - वही तू नित्य, मुक्त, व्यापक, सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म है । जिसके द्वारा योग में स्थित रहकर - मैं भगवान का ध्यान करता हूँ कि नहीं - ऐसा मन के द्वारा किया जानेवाला, ध्यान अथवा विक्षेप का जो प्रकाशक है वह तू द्रष्टा, चैतन्यात्मा, निर्विकल्प स्वतः सिद्ध, स्वयं प्रकाश साक्षी आत्मा है ।

विचार करने से ज्ञात होगा कि मन के सुख-दुःख को सिद्ध करने वाले तुझ द्रष्टा, साक्षी, चैतन्यात्मा में दुःख सुख कहाँ ? विक्षेप रूप मन के दुःख का और एकाग्रता रूप मन की समाधि का जिसने अनुभव किया है वह तू अनुभव स्वरूप सुख-दुःख, विक्षेप-समाधि, बन्ध-मोक्ष से रहित नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है । तू बिना कीचड़ लगे कीचड़ को दूर करने की चेष्टा क्यों करता है ? तुझ शुद्ध स्वरूप में मलिनता उसी प्रकार नहीं जैसे सूर्य में अन्धकार कभी नहीं रहता । ध्यान योग समाधि सब मन का ही मैल है और तू उसका प्रकाशक है ।

मुमुक्षुओं को आत्मज्ञान का साधन कष्ट रहित तत्काल शान्ति निर्भयता एवं आनन्द रूप फल देने वाला है । ज्ञान द्वारा वस्तु का सम्यक् स्वरूप जानने में आता है, वह योग द्वारा नहीं । योगी को भी विचार की अपेक्षा रहती है । बन्ध-मोक्ष से रहित ऐसे चैतन्य तुझ आत्मा के लिये योगादि साधन करना किंचित् भी कर्तव्य नहीं है । तुझ में मलिनता ही नहीं है तब उसे दूर करने के लिये योग समाधि भी कर्तव्य रूप कैसे हो सकेगा ?

दशम द्वार में प्रकाश विशेष होगा ऐसा भी नहीं है, जैसे अन्य अंग, मस्तिष्क, हृदय, गर्भ मन्दिर, पेट आदि अन्धकार मय है उसी प्रकार दशम द्वार भी है । साक्षी आत्मा सर्वत्र भीतर-बाहर परिपूर्ण है । आत्मा के द्वारा ही तो पता चलता है कि कितने समय प्राण दशम द्वार में स्थिर रह सका । हे आत्मन् ! स्वप्न द्रष्टा की प्राप्ति हेतु स्वप्न नगर के लोग प्राणायाम

करके, प्राणों को दशम द्वार में चढ़ावे - यह उनकी मूर्खता ही समझी जावेगी; कारण कि स्वप्न द्रष्टा तो उन स्वप्न नगर के लोगों को नित्य प्राप्त आत्मा ही है ।

यदि योग सत् होगा तो नित्य प्राप्त होता । उसे साधन द्वारा सिद्ध न करना पड़ता । साधन से सिद्ध होने वाला योग अनित्य है । योग से जानने के प्रथम स्वतः सिद्ध मुझ चैतन्यात्मा को अनित्य योग की जरूरत नहीं है । जिसका चित्त सूक्ष्म आत्म विचार करने में समर्थ नहीं है, उस स्थूल बुद्धि वाले के लिये यह हठ योग है, विचार शील के लिये नहीं ।

हे आत्मन् ! योग का अर्थ चित्त की एकाग्रता है, वह मुझ चैतन्य से पृथक् दृश्य रूप है, जिसका मैं द्रष्टा, साक्षी हूँ । तब पर प्रकाश योग, प्राणायाम ध्यान, समाधि आदि साधनों के द्वारा नित्य सिद्ध मुझ आत्मा की मुक्ति किस प्रकार हो सकेगी ? प्रत्युतः मुझ नित्य सिद्ध आत्मा द्वारा ही योग की सिद्धि होती है । तब मुझे चित्त की एकाग्रता या विक्षेप से क्या मलतब ?

जिसको समाधि करने से सुख होता है एवं विक्षेप होने से दुःख होता है वे ध्यान, समाधि, प्राणायाम आदि साधन करें अथवा न करें, परन्तु मैं असंग, निर्विकार, निष्क्रिय, चैतन्य रूप आकाश में मन रूप वायु के स्फुरण या अस्फुरण से हर्ष शोक माने तो वह विद्वानों के हास्य का ही पात्र है । मन समाधि करे अथवा न करे इसमें मुझ साक्षी आत्मा का कोई प्रयोजन नहीं ।

◆◆◆

समाधि निरूपण

वेदान्त श्रवण मात्र से उसका मनन करना सौ गुना अच्छा है और

मनन से लाख गुना श्रेयस्कर निदिध्यासन (आत्म भावना को अपने चित्त में स्थिर करना) तथा निदिध्यासन से अनन्त गुना निर्विकल्प समाधि का महत्व है; क्योंकि फिर आत्म स्वरूप से चित्त कभी पलायमान नहीं होता है । निर्विकल्प समाधि से समस्त वासना का नाश हो जाता है और भीतर-बाहर सर्वत्र बिना प्रयास के ही निरन्तर स्वरूप की स्फूर्ति होने लगती है । जिस समय रात-दिन निरन्तर अभ्यास से परिपक्व होकर मन ब्रह्म में लीन हो जाता है, उस समय अद्वितीय ब्रह्मानन्द का अनुभव कराने वाली वह निर्विकल्प समाधि स्वयं ही प्रकट हो जाती है । निर्विकल्प समाधि को सिद्ध करने के लिये किसी अनात्म साधनों का सहयोग लेने की आवश्यकता नहीं रहती । जैसे वर्षा ऋतु में बादलों के कारण सूर्य प्रतीत नहीं होता है, किन्तु बादल हटते ही बिना प्रयास के स्वयं दिखाई पड़ता है ।

जिस प्रकार अग्नि में तपाया स्वर्ण सम्पूर्ण मल को त्यागकर अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार मन आत्म ध्यान के द्वारा तीनों गुणों के मल को त्याग कर आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लेता है । इस निर्विकल्प समाधि से समस्त वासना-ग्रन्थियों का नाश हो जाता है और ब्रह्म तत्त्व का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है । इस प्रकार ब्रह्मबोध ब्रह्मज्ञान के बिना अन्य किसी साधन द्वारा नहीं होता है ।

वाणी को व्यर्थ थकाने से रोकना, मौन रहना, लौकिक पदार्थों की आशा छोड़ना, कामनाओं का त्याग, द्रव्य का संग्रह न करना, नित्य एकान्त में रहना - यह सब निर्विकल्प समाधि का पहला द्वार है । एकान्त में रहना इन्द्रिय निरोध का कारण है और इन्द्रिय निरोध चित्त निरोध का कारण है । एवं चित्त निरोध वासना नाश का हेतु है तथा वासना नष्ट हो जाने से योगी को बिना प्रयास स्वतः ही ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है । इसलिये मुमुक्षु को सर्वदा चित्त को अनात्म चिन्तन से रोक कर आत्मध्यान परायण रहना चाहिये ।

वाणी को मन में लय करें, मन को बुद्धि में लय करें, बुद्धि को साक्षी में लय करें एवं साक्षी कूटस्थ आत्मा को निर्विकल्प पूर्ण ब्रह्म में लय कर परम शान्ति का अनुभव करें । जब साधक का चित्त देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि : इन समस्त उपाधियों से निवृत्त हो जाता है उसको पूर्ण उपरति के फल स्वरूप निर्विषयक ब्रह्मानन्द की स्पष्टतया प्रतीति होने लगती है । अज्ञान रूपी हृदय की ग्रन्थि का सर्वथा नाश तो तभी होता है जब निर्विकल्प समाधि द्वारा अद्वैत आत्म स्वरूप का साक्षात्कार कर लिया जाता है । अद्वितीय और निर्विशेष परमात्मा में अज्ञान दोष से मैं, तू, वह, यह ऐसी कल्पना होती है और यही सम्पूर्ण विकल्पों से नित्य सिद्ध सहज समाधि में विक्षेप होता है ।

जो लोग श्रोत्रादि इन्द्रिय वर्ग तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारादि इन बाह्य उपाधियों को आत्मा में लीन करके समाधि में स्थित होते हैं वे अपरोक्ष ज्ञानी ही मुक्त हैं । किन्तु जो देह, इन्द्रिय, मनादि में अहंभाव रखते हुए केवल वाणी से 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार परोक्ष ब्रह्मज्ञान की बातें बनाते रहते हैं वे कभी मुक्त नहीं हो सकते । देह उपाधि भेद से आत्मा में भेद की प्रतीति होती है और उपाधि का लय हो जाने पर वह केवल स्वयं ही रह जाता है । इसलिये देह उपाधि का लय करके विचारवान पुरुष सदा निर्विकल्प समाधि में स्थित हो कर रहें । एकाग्र चित्त से निरन्तर सत्यस्वरूप में स्थित रहने से मनुष्य ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है । जैसे एक प्रकार के कीट को भ्रमर किसी स्थान पर बन्द कर रखदेता है तो वह कीट भ्रमर का ध्यान करते-करते भ्रमर रूप ही हो जाता है । उसी प्रकार योगी एकनिष्ठ होकर परम आत्मतत्त्व का चिन्तन करते-करते स्वयं परमात्म भाव को प्राप्त हो जाता है । परमात्म तत्त्व अति सूक्ष्म है । उसे स्थूल दृष्टि से कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता । इसलिये अति शुद्ध बुद्धिवाले सत्पुरुषों को उस स्वयं सिद्ध, सर्व प्रकाशक, साक्षी ब्रह्म को विचार समाधि द्वारा अति सूक्ष्म

वृत्ति से मैं रूप में जानना चाहिये ।

◆◆◆

स्थूल शरीर

पूर्व संचित् कर्मों के अनुसार पंचीकृत आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी - इन पंच महाभूतों के २५ तत्त्वों से उत्पन्न हुआ यह स्थूल शरीर जीवात्मा के स्थूल भोगों को भोगने एवं नूतन उत्थान-पतन करने का स्वतन्त्र घर है । इसकी मुख्य स्थिति जाग्रत काल है । यहाँ चौदह त्रिपुटियों का स्थूल व्यवहार एवं भोग होता रहता है । स्वप्न काल में यह शरीर नहीं रहता है । इस प्रकृति के कार्य रूप शरीर के साथ यह जीव बाहरी अन्न, वस्त्र, अलंकार, नाच, गान, स्त्री, पुरुष, आदि नाना प्रकार के स्थूल भोगों का इन्द्रिय द्वारा सेवन करता है । जैसे संसारी मनुष्य का घर होता है उसी प्रकार इस जीव के लिये यह स्थूल देह घर की समान है । स्थूल देह के ही जन्म, किशोर, युवा, प्रौढ़, वृद्ध, मृत्यु, लम्बा, छोटा, दुर्बल, मोटा, सुन्दर, असुन्दर, रोग, भोग, जाति, नाम, आश्रम, सम्बन्ध, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि अनेक प्रकार के मर्यादा, नियम और मान, अपमान, पूजा, सत्कार, आदि होते हैं । त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु, मेद, मज्जा और अस्थियों का समूह तथा मल-मूत्र से भरा हुआ है । यह स्थूल देह आत्म स्वरूप को जानने का द्वार होने से सर्व श्रेष्ठ देव दुर्लभ योनि कहा गया है । आत्मबोध न कर केवल विषय भोग में आसक्त के लिये अति निन्दनीय नरक द्वार भी कहा गया है ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशममात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।

- गीता : १६/२१

◆◆◆

अन्नमय कोष

स्त्री, पुरुष द्वारा खाये-पीये अन्न, जल से उत्पन्न रज-वीर्य का परिणाम रूप यह देह ही अन्नमय कोश है । गर्भ में माँ द्वारा खाये अन्न से निर्मित रस द्वारा यह जीव जीता है एवं गर्भ से बाहर आकर माँ के स्तन से प्राप्त दुग्ध द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता रहता है । फिर स्वयं अपने मुख से भोजन ग्रहण कर प्रारब्ध भोग कर इस अन्नरूप पृथ्वी में मिल जाता है । यह त्वचा, मांस, रक्त, अस्थि, और मल आदि का समूह स्वयं नित्य, शुद्ध आत्मा नहीं हो सकता, किन्तु आत्मदेव को जानने का सब से सुन्दर निकेतन होने से इस शरीर मन्दिर को देव दुर्लभ योनि कहा जाता है । चौरासी लाख योनियों में यह सर्वश्रेष्ठ एवं मुक्ति प्राप्त करने के लिये द्वार रूप है ।

"साधन धाम मोक्ष कर द्वारा" - रामायण

यह शरीर जन्म से पूर्व एवं मृत्यु के बाद भी नहीं रहता है । जीवन काल में भी प्रतिक्षण यह नूतन उत्पन्न होता रहता है । यह शरीर जड़ एवं घट पट आदि पदार्थों की तरह दृश्य और अस्थिर स्वभाववाला है । फिर इस देह के समस्त भावाभाव विकारों को जानने वाला मैं स्वयं कैसे विकारी शरीर हो सकता हूँ ? यह हाथ, पैर, मुख, नाकवाला शरीर मैं आत्मा नहीं हो सकता । देह, उसके धर्म, उसके कर्म तथा उसकी अवस्थाओं के साक्षी मुझ आत्मा की उससे पृथक्ता स्वतः सिद्ध है । हड्डियों का समूह, मांस से गढ़ा गया, चमड़ी में लिपटा, मल से भरा हुआ अति अधम धातु से जिसका प्रथम चरण शुरु हुआ है । ऐसे दृश्य अनात्म शरीर को जानने वाला स्वयं जड़ अनात्म शरीर कैसे हो सकता है ? जाननेवाला तो सर्वदा जानी गई, देखी हुई दृश्य वस्तु से पृथक् ही होता है ।

त्वचा, मांस, मेद, अस्थि और मल के राशि रूप इस देह में मूढ़ जन ही अहं-बुद्धि तथा मैं-पन करते हैं । विचारशील पुरुष को इस जड़ दृश्य देह में - *मैं शरीर हूँ*- ऐसी भ्रान्ति नहीं होती । विचारशील, विद्वान् की तो जीव में मैं बुद्धि होती है कि मैं कर्ता-भोक्ता जीव हूँ; किन्तु ज्ञानवान् महात्मा का जीव साक्षी सत्य आत्मा में अहं-बुद्धि अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ - ऐसी बुद्धि होती है ।

जबतक विद्वान् असत् देह और इन्द्रिय आदि में भ्रम से उत्पन्न हुई अहं बुद्धि को नहीं छोड़ता तबतक वह वेदान्त सिद्धान्तों का ज्ञाता, प्रवचन कर्ता, ग्रन्थ रचयिता होने पर भी उसका मोक्ष नहीं हो सकेगा ।

अपनी छाया, प्रतिविम्ब और मन कल्पित स्वप्न रचित शरीर में जिस प्रकार किसी की आत्म-बुद्धि, अहंबुद्धि, मैं-भाव नहीं होता, उसी प्रकार जीवित प्रत्यक्ष इस स्थूल शरीर में भी मैं भाव नहीं होना चाहिये ।

अरे मूर्ख ! इस त्वचा, मांस, रक्त, अस्थि और मलादि के समूह में आत्म-बुद्धि, मैं-भाव छोड़ सर्वात्मा, निर्विकल्प, निराकार ब्रह्म में ही आत्म बुद्धि, आत्म-भाव करके परम शान्ति का अनुभव कर । क्योंकि असत् देहात्म बुद्धि ही मनुष्यों के जन्मादि दुःखों की उत्पत्ति का कारण है । अतः उसे तू प्रयत्न पूर्वक छोड़ दे । इस अनित्य दुःख रूप शरीर से मैं-बुद्धि के छूट जाने पर फिर पुनर्जन्म की प्राप्ति नही हो सकेगी । यह अन्नमय कोष स्थूल शरीर का है ।

◆◆◆

सूक्ष्म शरीर

जीवात्मा इस सूक्ष्म शरीर में रहकर श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा,

घ्राणादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ द्वारा बाह्य जगत् से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि पाँच विषयों को अपनी पसन्द से ग्रहण करता है । इसी तरह इस शरीर में वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ तथा गुदा - यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ सेवक रूप है, जिनके द्वारा यह जीव बोलना, लेना-देना, चलना, मूत्र त्याग - मैथुन तथा मल त्याग करता है और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारवृत्ति रूप अन्तःकरण कर्ता एवं भोक्ता रूप जाने जाते हैं ।

यह अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुआ सूक्ष्म (लिंग) शरीर नाम से कहा जाता है । यह वासना युक्त होने के कारण कर्मों को करने वाला एवं फल को भोगने वाला है और आत्मज्ञान के द्वारा जीवन्मुक्ति का हेतु भी है । इस प्रकार पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच प्राण, पंचभूत, अन्तःकरण चतुष्टय, अविद्या, काम और कर्म - यह सूक्ष्म शरीर कहलाता है एवं स्व-स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण आत्मा की अनादि उपाधि है ।

स्वप्न अवस्था जीव की अभिव्यक्ति की अवस्था है, जहाँ यह स्वयं ही बिना किसी सामग्री के सम्पूर्ण सूक्ष्म संसार निर्मित कर लेता है । वहाँ जाग्रत अवस्था के देखे सुने भोगे संस्कारों का बिना स्थूल इन्द्रिय व भोग के केवल मन के द्वारा सुख-दुःख रूप में सूक्ष्म भोग होता है । वहाँ बुद्धि ही कर्ता होकर कर्म करती है एवं फल भोगती है । इस शरीर की उपाधि बुद्धि ही है । ऐसा वह चिदात्मा पुरुष बुद्धि आदि समस्त इन्द्रियों के द्वारा हुए सर्व स्थूल-सूक्ष्म कर्मों का साक्षी तनिक भी लिप्त नहीं होता है; क्योंकि वह असंग है । **असंगोऽयं पुरुषः ।**

यह लिंग देह (सूक्ष्म शरीर) जीव के समस्त कर्मों के करने का उपकरण है, जैसे बढ़ाई का बसूला, करवत, रन्दा, चोरसी, सार आदि यन्त्र होते हैं; किन्तु आत्मा सर्व त्रिपुटियाँ के कर्म एवं भोग का असंग साक्षी ही रहता है । न यह साक्षी आत्मा किसी कर्म का कर्ता है और न यह फल

का भोक्ता होता है ।

पटुता, मंदता तथा अन्धता - यह तीनों धर्म इन्द्रियों के ही है । अच्छी तरह देखना, कम देखना, बिलकुल नहीं देखना या ठीक सुनना, कम सुनना या बिलकुल सुनाई नहीं पड़ना - यह धर्म उन आँख, कान इन्द्रियों के ही है । आत्मा सर्वदा समस्त क्रियाओं से रहित असंग साक्षी है । उस का धर्म सुनना, स्पर्श करना, देखना, स्वाद लेना, बोलना, ग्रहण-त्याग, दौड़ना, मूत्र करना, मैथुन करना तथा मलत्याग करना आदि कुछ भी नहीं है ।

श्वाँस-प्रश्वाँस, जम्हाई, छींक, काँपना, उछलना, दौड़ना, मल-मूत्र त्याग करना आदि क्रियाओं को तत्त्वज्ञ प्राणादिक का धर्म बतलाते हैं । इन में प्राणों का काम नित्य भूख-प्यास लगाना एवं २१६०० बार श्वाँस-प्रश्वाँस करना है । जन्म से मृत्यु पर्यन्त इन पांच प्राणों की सेवा स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण - इन तिनों देहों में अविराम गति से निरन्तर होती रहती है ।

◆◆◆

प्राणमय कोश

यह सूक्ष्म शरीर का है । पाँच प्राण और पाँच कर्मेन्द्रियों से युक्त यह प्राणमय कोश कहलाता है । जिससे युक्त यह अन्नमय कोश शक्ति पाकर समस्त कर्मों में प्रवृत्त होता है । यह प्राणमय कोश भी आत्मा नहीं है; क्योंकि यह वायु का विकार है और वायु के समान भीतर-बाहर जाने आनेवाला है । इसे अपना-पराया, इष्ट-अनिष्ट का कुछ भी पता नहीं चलता है । प्रारब्ध भोग जब पूरा हो जाता है तब यह देह को छोड़ भावी देह में चला जाता है ।

◆◆◆

मनोमय कोश

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ही मैं-मेरा आदि विकल्पों का हेतु मनोमय कोश है। यह भी सूक्ष्म शरीर का अंग है। अविद्या ही भव बन्धन का हेतु है। मन के अलावा अविद्या और कुछ नहीं है। यह मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है। उसके लीन हो जाने पर सब कुछ प्रपंच लीन हो जाता है और मनके जाग्रत होने पर समस्त दृश्य प्रपंच मैं-मेरा, अंहता-ममता रूप में प्रकट हो जाता है।

जिस काल में जगत् का कोई स्थूल पदार्थ नहीं होता है, उस स्वप्न काल में यह मन ही अपनी शक्ति से सम्पूर्ण भोक्ता, भोग्य आदि प्रपंच रच लेता है। इसी प्रकार यह जाग्रत जगत् भी एक स्वप्न की तरह मन का मनोविलास ही है : '*जगत् सब सपना*'। सुषुप्ति काल में मन के लीन हो जाने पर कुछ भी दृश्य रूप, ज्ञेय रूप यह संसार नहीं रहता - यह सब का अनुभव है। अतः यह संसार इस जीव के मन की कल्पना मात्र ही है, वस्तुतः सत्य नहीं है।

रज-तम से मिला यह मन जीव के बन्धन का कारण होता है और रज-तम गुणों से रहित यह शुद्ध सत्वगुणी मन ज्ञान द्वारा मुक्ति का कारण होता है। यह मन ही देहादि सब विषयों में राग करके रस्सी से पशु की तरह जीव को बान्धता है और फिर इन विषवत् विषयों से वैराग्य उत्पन्न करके जीव को बन्धन से मुक्ति करा देता है। मन नाम का भयंकर व्याघ्र विषय रूप वन में घूमता फिरता है। जो साधु पुरुष एवं मुमुक्षु है वे वहाँ न जावें। विवेक-वैराग्यादि गुणों से शुद्धता को प्राप्त हुआ मन मुक्ति का हेतु है।

अतः विद्वान पुरुष विवेक-वैराग्य, इन दोनों को प्रथम दृढ़ करें ।

मन ही संपूर्ण स्थूल-सूक्ष्म विषयों को, शरीर-वर्ण-आश्रम-जाति आदि भेदों को तथा गुण, क्रिया, हेतु और फलादि को, भोक्ता जीव के लिये नित्य उत्पन्न करता रहता है । यह मन ही इस असंग चिद्रुप जीव आत्मा को मोहित करके अनात्म देह, इन्द्रिय, प्राणादि गुणों से बान्ध दोता है फिर उनमें मैं-मेरा भाव कर उनके द्वारा हुए कर्मफल भोग निरन्तर भटकाता है । अध्यास-दोष (देहादि को मैं मानना) ही पुरुष को जन्म-मरण रूप संसार देता है और यह अध्यास का बन्धन इसी मन का कल्पित किया हुआ है । अविवेकी पुरुष के लिये यह अध्यास ही जन्मादि दुःखों का मूल कारण है । तत्त्वदर्शी विद्वान मन को ही अविद्या कहते हैं । अतः उस मन का मुमुक्षु को प्रयत्न पूर्वक शोधन करना चाहिये । उसके शुद्ध हो जाने पर जब देहादि अनात्मा से अहं-बुद्धि का त्याग हो जावेगा और आत्मा में ही आत्म बुद्धि जाग्रत हो जावेगी, तब मुक्ति हाथ में रखे गुलाब के पुष्प की तरह साक्षात् अनुभव में आ सकेगी ।

यह मनोमय कोश भी आद्यान्तवान परिणामी, दुःखात्मक और विषय रूप होने के कारण परमात्मा नहीं हो सकता; क्योंकि द्रष्टा कभी दृश्य रूप नहीं हो सकता ।

◆◆◆

विज्ञानमय कोश

यह विज्ञानमय कोश भी सूक्ष्म शरीर का अंग है । पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ अन्तःकरण की वृत्ति रूप बुद्धि ही कर्तापन के स्वभाव वाला विज्ञानमय कोश है, जो पुरुष के जन्म-मरण रूप संसार का कारण है ।

चित्त और इन्द्रियादि का अनुगमन करने वाली चेतन की प्रतिविम्ब शक्ति चिदाभास ही 'विज्ञान' नामक प्रकृति का विकार है । जो **मैं ज्ञानावान् और क्रियावान् हूँ** - ऐसा देह, इन्द्रिय आदि में अभिमान किया करता है ।

यह अहं स्वभाव वाला विज्ञानमय कोश ही अनादि कालीन जीव और संसार के समस्त व्यवहारों का निर्वाह करने वाला है । यह अपनी पूर्व वासना से पुण्य-पापमय अनेकों कर्म करता और उनके फल भोगता है । यह विविध योनियों में भ्रमण करता हुआ कभी नीचे, कभी ऊपर जाता है । जाग्रत, स्वप्न आदि अवस्थाएँ, सुख-दुःख आदि भोग, देहादि से सम्बन्धित आश्रमादिकों के धर्म-कर्म, गुणों का अभिमान और ममता आदि सर्वदा इस विज्ञानमय कोश में ही रहते हैं । यह आत्मा के अति निकटता के कारण अत्यन्त प्रकाशमय है । अतः यह इसकी उपाधि है जिस में भ्रम से आत्म बुद्धि करके यह जन्म-मरण रूप संसार चक्र में पड़ता है ।

यह जो विज्ञान स्वरूप स्वयं प्रकाश हृदय के भीतर प्राणादि से स्फुरित हो रहा है, वह कूटस्थ निर्विकार आत्मा होने पर भी उपाधिवश कर्ता-भोक्ता हो जाता है । वह परमात्मा मिथ्या बुद्धि से एकीभूत हो जान के कारण दोष स्वयं सर्वात्मक होते हुए भी परिच्छिन्न मानकर अपने को जीव रूप से पृथक् देखता है । यह परमात्मा स्वरूप से तो सदा एक रस ही है । तथापि बुद्धि उपाधि के सम्बन्ध से उनके गुणों से युक्त-सा होकर उसके धर्मों के साथ प्रकाशित होने लगता है । जिस प्रकार लोहे के विकारों में व्याप्त अविकारी अग्नि उन्हीं के समान लम्बा, चौकोर, त्रिकोण, गोलादि रूप में प्रकाशित होती है । अतः यह आत्मा विज्ञानमय कोश का प्रकाशक स्वयं बुद्धि रूप नहीं हो सकता ।

साक्षी, निर्गुण, अक्रिय और प्रत्यक् ज्ञानानन्द स्वरूप उस आत्मा

में बुद्धि के भ्रम से ही जीव-भाव की प्राप्ति हुई है । वह वास्तविक नहीं है; क्योंकि यह जीव भाव अवस्तु रूप मिथ्या ही है । मोह दूर हो जाने पर जीव भाव स्वभाव से ही नहीं रहता । फिर एक अखण्ड तत्त्व ही शेष रहता है ।

''एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्मं'' ''नेह नानास्ति किंचित्''

जो आत्मा असंग, निष्क्रिय और निराकार है, उस आत्मा का पदार्थों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है । जैसे भ्रम की स्थिति पर्यन्त ही रस्सी सर्पाकार प्रतीत होती है और भ्रम के नाश होने पर बुद्धि से मिथ्या सर्प ज्ञान निवृत्त हो जाता है - वैसे ही जब तक भ्रम है, तभी तक प्रमादवश मिथ्या ज्ञान से प्रकट हुए इस जीव भाव की सत्ता है । सद्गुरु से जब अखण्ड एक रस परमात्मा का ज्ञान हो जावेगा तब अविद्या जनित जीव भाव का स्वयं नाश हो जावेगा । जैसे नींद से जाग्रत हो जाने वाले पुरुष का सभी स्वप्न संसार स्वतः नष्ट हो जाता है ।

यह जीव भाव अनादि होने पर भी नित्य नहीं है; क्योंकि अनादि जीव भाव का ध्वंस होते देखा गया है । अतः जिस जीव भाव की बुद्धि रूप उपाधि के सम्बन्ध से आत्मा में कल्पना हुई है, वह जीव अधिष्ठान आत्मा से पृथक् नहीं हो सकता । बुद्धि के साथ यह आत्मा का सम्बन्ध मिथ्या ज्ञान के कारण ही है । इस मिथ्या देहध्यास की निवृत्ति आत्मा के यथार्थ ज्ञान द्वारा ही हो सकेगी अन्यथा किसी प्रकार नहीं । यह ब्रह्म और आत्मा का एकत्व ज्ञान, सोऽहम् ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है - ऐसा श्रुति का सिद्धान्त है । अतः ब्रह्मात्मैक्य - ज्ञान की सिद्धि आत्मा और अनात्मा का भली प्रकार विवेक हो जाने पर ही होता है । अतः मुमुक्षु को ब्रह्म और जीव का, प्रत्यगात्मा और मिथ्यात्मा (जीव) का भली प्रकार विवेचन करना चाहिये ।

अत्यन्त गँदला जल भी जिस प्रकार निर्मली चूर्ण के प्रभाव से कीचड़ के निचे बैठ जाने पर स्वच्छ जल मात्र रह जाता है, उसी प्रकार

आत्मा और अनात्मा के स्पष्ट बोध हो जाने पर देहादि पंचकोशों से अहं-बुद्धि निवृत्त हो जाने पर अत्यन्त स्पष्ट आत्मा प्रकाशित होने लगता है । सत्य आत्मा के प्रति सोऽहम् विचार से असत् देहाभिमान के निवृत्ति होने पर इस प्रत्यक् (आन्तरिक) आत्मा की स्पष्ट प्रतीति होने लगती है । अतः अहंकारादि असत् अनात्म भाव का भली प्रकार बाध करना चाहिये अर्थात् अनात्म देह, प्राण, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आदिकों से मैं-बुद्धि का त्याग करना चाहिये ।

अतएव विज्ञानमय कोश भी विकारी, जड़, परिच्छिन्न तथा घटवत् दृश्य होने के कारण परमात्मा नहीं हो सकता; क्योंकि यह अनित्य है और अनित्य विज्ञानमय कोश कभी नित्य आत्मा नहीं हो सकता ।

◆◆◆

कारण शरीर

इसकी अभिव्यक्ति की अवस्था सुषुप्ति है । यह जीव का कारण शरीर है । इसमें बुद्धि की सम्पूर्ण वृत्तियाँ लीन हो जाती है और सब प्रकार का बुद्धि ज्ञान शान्त हो बुद्धि बीज रूप से लीन रहती है । इसकी प्रतीति 'मैं कुछ नहीं जानता' - इस रूप में होती है ।

आनन्दमय कोष

यह कोश कारण शरीर का है । आनन्द स्वरूप आत्मा के प्रतिविम्ब को ग्रहण करने वाला तथा तमोगुण से प्रकट हुई वृत्ति- कुछ नहीं जानना-रूप आनन्दमय कोश है । यह प्रिय, मोद तथा प्रमोद - इन तीनों गुणों से युक्त है और अपने अभिष्ठ इच्छित पदार्थ के प्राप्त होने पर प्रकट होती है ।

पुण्य कर्म के परिपाक होने पर मन के अन्तर्मुख होने से उसके फल स्वरूप सुख का अनुभव करते समय भाग्यवान पुरुषों को उस आनन्दमय कोश का स्वयं पता चलता है । जिससे समस्त देहधारी जीव बिना प्रयत्न के सुषुप्ति अवस्था में बिना विषय भोग के अति आनन्दित होते हैं । इस आनन्दमय कोश की तीव्र प्रतीति तो सुषुप्ति अवस्था में ही होती है । तथापि जाग्रत और स्वप्न में भी जब-जब इच्छित् कामना की पूर्ति होती है तब-तब उसका यत् किंचित् भान होता है । यह आनन्दमय कोश आत्मा नहीं है; क्योंकि आनन्द उपाधि युक्त एवं प्रकृति का विकार है, शुभ कर्मों का कार्य है और प्रकृति के विकारों के समूह स्थूल शरीर के आश्रित है । स्थूल शरीर के बिना इस जीवात्मा को न तो किसी प्रकार के भोग की प्राप्ति हो पाती है और न आनन्द की अनुभूति हो पाती है ।

श्रुति के अनुकूल युक्तियों से पाँचों कोशों का निषेध कर देने पर उनके निषेध की अवधि रूप शुद्ध बोध स्वरूप पंच कोशों का साक्षी आत्मा बचा रहता है । इस प्रकार जो आत्मा स्वयं प्रकाश, अन्नमयादि पाँचो कोशों से पृथक् तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति -तीनों अवस्थाओं का साक्षी है । सत् रूप निर्विकार, निर्मल और शुद्ध सत् स्वरूप आत्मा है, उसे ही मुमुक्षु पुरुष को अपना वास्तविक स्वरूप समझना चाहिये की यह आत्मा मैं हूँ ।

त्रिगुण

रजोगुण

क्रिया रूपा विक्षेप शक्ति रजोगुण की है, जिससे अनादि से समस्त क्रियाएँ होती आ रही है । काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, असूया (गुणों में दोष ढूँढना), अभिमान, इर्षा और मत्सर - यह सारे धर्म तमोगुण के ही है ।

अतः जिसके द्वारा जीव अनादि काल से समस्त क्रियाओं में प्रवृत्त होता है, वह रजोगुण ही इस जीव का बन्धन का हेतु है । इस रजोगुण से ही मन में राग द्वेष, सुख-दुःखादि विकार उत्पन्न होते हैं ।

तमोगुण

जिसके कारण वस्तु कुछ-की-कुछ प्रतीत होने लगती है, वह तमोगुण की आवरण शक्ति है । यही पुरुष के जन्म-मरण रूप संसार का आदि कारण है और यही विक्षेप शक्ति के प्रसार का भी हेतु है । तम से ग्रसित व्यक्ति को चाहे कोई कितना भी चतुर, बुद्धिमान, समदर्शी नाना प्रकार से समझावे पर वह अपना मताग्रह का त्याग नहीं करता एवं भ्रम से आरोपित पदार्थ रज्जु में सर्प, सीप में चान्दी (रूपा), इन्द्रधनुष के रंग, मरूभूमि के जल को सत्य मानता है । यह आवरण और विक्षेप शक्ति वाला होता है । अज्ञान, आलस्य, जड़ता, निद्रा, प्रमाद, मूढ़ता आदि तम के गुण है । इन से युक्त पुरुष कुछ नहीं समझता; वह निद्रालु या स्तम्भ के समान जड़वत् रहता है । तमोगुण की आवरण शक्ति बड़ी प्रबल है । इस आवरण शक्ति से ही पुरुष को अभावना, विपरीत भावना, असम्भावना आदि उत्पन्न होती है ।

ब्रह्म नहीं है - जिससे ऐसा ज्ञान हो वह अभावना कहलाती है । मैं शरीर हूँ - यह विपरीत भावना है । किसी के होने में संदेह अस्मभावना है है या नहीं - इस तरह के संशय को विप्रतिपत्ति कहते हैं । प्रपंच का व्यवहार ही माया की विक्षेप शक्ति है ।

सत्त्वगुण

सत्त्वगुण जल के समान शुद्ध है । तथापि रज और तम से मिलने पर वह भी पुरुष की प्रवृत्ति का कारण होता है । सत्त्वगुण के कार्य रूप बुद्धि में प्रतिविम्बित् होकर आत्मा विम्ब सूर्य के समान समस्त जड़ पदार्थों को

प्रकाशित करता है । अमानित्व अर्थात् मान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, क्षमाभाव, सद्गुरु की श्रद्धा-भक्ति सहित सेवा, प्राणी मात्रको किसी प्रकार न सताना, मन व इन्द्रियाँ सहित शरीर का निग्रह, अहंकार का अभाव, प्रिय-अप्रिय, निन्दा स्तुति में सम, हर्ष-शोक विकारों का न होना, दैवी-संपदा तथा असत् का त्याग- ये सब रज-तम से मिले हुए सत्व गुण के धर्म है ।

आत्मानुभव, प्रसन्नता, परमशान्ति, तृप्ति, आनन्द और परमात्मा में बुद्धि की स्थिति होना यह विशुद्ध सत्वगुण के धर्म है, जिससे साधक नित्यानन्द को प्राप्त होता है ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

- गीता : ३/२७

वास्तव में संपूर्ण कर्म सब प्रकार के गुणों द्वारा किये जाते हैं । फिर भी जिसका अन्तःकरण अहंकार से मोहित हो रहा है और मैं कर्ता हूँ - ऐसा मानता है : वह अज्ञानी बन्धन को प्राप्त होता है ।

हे आत्मन् ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण - ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण इस देह स्थित अविनाशी जीवात्मा को शरीर में अहंभाव उत्पन्न कराकर संसार बन्धन में डाल रखते हैं । सत्त्वगुण सुख व ज्ञान में, रजो गुण कर्मों में और उनके फलों में बांधता है तथा तमोगुण प्रमाद, आलस्य, मूढ़ता एवं दुष्कर्मों में बांधता है ।

जिस समय अन्तःकरण में विवेक शक्ति एवं इन्द्रियों में चेतनता उत्पन्न होती है उस समय सत्त्वगुण बढ़ा है - ऐसा समझना चाहिये । रजोगुण के बढ़ने पर मन में लोभ प्रवृत्ति, स्वार्थ बुद्धि, सकाम भाव, कर्मों का आरम्भ अशान्ति और विषय भोग की लालसा होना ये सब उत्पन्न होते

हैं । तमोगुण के बढ़ने पर अन्तःकरण और इन्द्रियों में अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि मोहनी वृत्तियाँ उत्पन्न होती है । जब जीव सत्त्वगुण की वृद्धि के समय प्राण छोड़ देता है, तब यह उत्तम कर्म करनेवाले दिव्य स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है । रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होकर कर्मों की आसक्तिवाले इसी मृत्यु लोक में मनुष्य रूप में जन्म लेता है तथा तमोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होने वाला जीव कीट, पशु आदि मूढ़ योनियों में जन्म लेता है ।

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमाद मोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।। - गीता : १४/१७

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्य गुण वृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः ।। -गीता १४/१८

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।। - गीता : १४/२२

जो पुरुष सत्त्वगुण के कार्य रूप प्रकाश को और रजोगुण के कार्य रूप प्रवृत्ति को तथा तमोगुण के कार्य रूप मोह को भी न तो प्रवृत्त होने पर उनसे द्वेष करता है, और न निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा करता है ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।

- गीता : १४/१९

जो ज्ञानी पुरुष तीनों गुणों को ही कर्मों का कर्ता एवं फलों का भोक्ता जीव को जानता है एवं अपने को द्रष्टा साक्षी भाव में स्थित रखता हुआ तीनों गुणों के कार्य से विचलित नहीं होता है और ''**गुणा गुणेषु वर्तन्त**'' अर्थात् गुण ही गुणों में बरतते हैं - ऐसा समझता है - तब वह सच्चिदानन्द घन परमात्म स्वरूप को ही प्राप्त होता है ।

यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँ ल्लोकान्नहन्ति न निबध्यते ।।

- गीता : १८/१७

जिस साक्षी भाव में स्थित ज्ञानी पुरुष के मन में *मैं किसी भी शुभाशुभ कर्मों का कर्ता नहीं हूँ* तथा जिस की बुद्धि भोगार्थ सांसारिक पदार्थों में भोगार्थ लिपायमान नहीं होती, वह किसी प्रकार के कर्मों को करने से भी वास्तव में न करता है और पुण्य न पाप से बन्धता है ।

नैस किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।।
प्रलयन्विसृजन्गृहणान्नुन्मिषन्निमिषन्नापि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।

- गीता : ५/८-९

तत्त्व को जाननेवाला ज्ञानी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सुंघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वाँस लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आखों को खोलता, मुँदता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में बरत रही है - ''*गुणा गुणेषु वर्तन्त*'' ऐसा समझकर निसंदेह ऐसा जाने और माने कि ''*मैं कुछ भी नहीं करता हूँ*'' ।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।।

- गीता : १३/२९

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से देह संघात प्रकृति के द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्मा को अकर्ता देखता है वही यथार्थ देखता है । वही ज्ञानी है । वही तु जीवन्मुक्त महापुरुष नित्य समाधिस्थ ही

है, ऐसा निश्चय से जानना चाहिये ।

◆◆◆

आत्मनिष्ठ के लक्षण

जो पुरुष सब भूतों में द्वेष भाव से रहित सब का प्रेमी और हेतु रहित दयालु है तथा ममत्व एवं अहंकार से रहित, सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमाभवान है अर्थात् अपराध करने वाले को भी अभय देने वाला है, जो ध्यान योग रूप साक्षी भाव में स्थित हुआ निरन्तर लाभ-हानि में सन्तुष्ट रहता है एवं मन और इन्द्रियों को वश में किये हुए आत्मा में ही सोऽहम् निष्ठा रखता है, जो आत्म चिन्तन में मन, बुद्धि को सदा लगाकर रखने वाला है, वह कल्याण को प्राप्त होता है और वही भक्त परमात्मा को प्राप्त होता है ।

जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होते हैं और जो स्वयं भी किसी जीव से किसी प्रकार के व्यवहार की प्राप्ति से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, जो दूसरे की उन्नति देखकर न सन्तप्त होता है और न किसी अनुकूल को देख हर्ष को प्राप्त होता है, जो भीतर-बाहर से शुद्ध आकांक्षा से रहित, पक्षपात से रहित मनुष्य जीवन के उद्देश्य को पूर्ण करने वाला, समस्त मन, वाणी और इन्द्रिय द्वारा प्रारब्ध से होने वाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मों से कर्तापन के अभिमान का त्यागी मोक्ष स्वरूप आत्मा को प्राप्त होता है ।

जो न कभी अनुकूलता में हर्षित होता है और न प्रतिकूलता से द्वेष करता है; न सोच करता है और न कामना करता है तथा समस्त शुभ-अशुभ कर्मों के फल का त्यागी है; शत्रु-मित्र में, मान-अपमान में, सर्दी-गर्मी में, निन्दा-स्तुति में समान साक्षी भाव से रहता है एवं आसक्ति से

रहित, स्थिर बुद्धि वाला, शरीर निर्वाह में सन्तुष्ट रहने वाला, रहने के स्थान में ममता से रहित, आत्म-ध्यान (मैं आत्मा हूँ) में निरन्तर मग्न रहने वाला, आत्मनिष्ठ आत्म को ही प्राप्त होता है ।

जो अपने मान, बड़ाई, श्रेष्ठता के अभिमान से रहित, दम्भाचरण में रहित, प्राणी मात्र को मन-वचन-कर्म से दुःख न पहुँचाने वाला है; क्षमाभावी, निरहंकार, सरल, गुरुसेवा परायण, भीतर-बाहर मन वाणी की शुद्धि, अन्तःकरण की एकनिष्ठता, मन इन्द्रियों का संयमी है; जो इस लोक से ब्रह्मादि लोकों के सुख की चाह न करने वाला जन्म-जरा-मृत्यु-दुःखों का बारम्बार चिन्तन करने वाला, धन-स्त्री-पति-पुत्र आदि में दुःखों का बारम्बार चिन्तन करने वाला ज्ञानी मुक्ति को प्राप्त होता है ।

जो प्रिय-अप्रिय में सदा ही चित्त को समता में रखता है, विषयासक्त दुर्गुणी मनुष्यों से दूर रहने वाला, आत्म भाव में सदा रहने वाला, एकान्त एवं शुद्ध वातावरण में रहने का स्वभाव वाला, मन के अनुकूल तथा प्रतिकूल अवस्था के प्राप्त होने में हर्ष-शोकादि विकारों से रहित, निरन्तर आत्मज्ञान में स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा को सर्वत्र देखने वाला परमात्मा को ही प्राप्त होता है ।

आत्म वस्तु और अनात्म वस्तु को स्पष्ट रूप से जानने वाला अध्यात्म ज्ञानी निरन्तर सब देश, सब काल और सब रूपों में अपने को ही देखने वाला, श्रद्धा एवं भाव सहित परम प्रेम से स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करने वाला अव्यभिचारिणी भक्ति का योग्य अधिकारी है ।

देहाभिमान, दम्भ, हिंसा, चुगली आदि जन्म-मृत्यु के हेतु होने से ***अज्ञान*** नाम से कहे गये हैं तथा आत्मज्ञान के प्राप्ति में सहयोगी साधन यहाँ ***ज्ञान*** नाम से कहे गये हैं । अज्ञान वाले लक्षण को ही आसुरी एवं ज्ञान प्राप्ति के साधनों को दैवी सम्पदा नाम से कहा जाता है ।

उपरोक्त ज्ञान प्राप्ति के साधनों को मोक्ष प्राप्ति के लिये एवं आसुरी

सम्पदा को बान्धने वाली जानना चाहिये । अतः जिज्ञासु को आसुरी सम्पदा का त्याग कर दैवी सम्पदा की ही वृद्धि करते रहना चाहिये ।

◆◆◆

आत्मा का स्वरूप

इस आत्मा को जानकर जीव संसार बन्धन से छूटकर कैवल्य पद को प्राप्त करता है । अहं-प्रत्यय का आधार कोई स्वयं नित्य पदार्थ है जो तीनों अवस्थाओं का साक्षी होकर भी पंचकोशातीत है । जो जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में बुद्धि और उस की वृत्तियों के होने और न होने को अहं भाव से स्थित हुआ जानता रहता है ।

जो स्वयं सब को देखता है किन्तु जिसको कोई नहीं देख सकता, जो मन, बुद्धि आदि को प्रकाशित करता है किन्तु जिसे मन, बुद्धि आदि प्रकाशित नहीं कर सकते, जिसने सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त किया है किन्तु जिसे कोई अपने सीमा में बान्ध नहीं सकता तथा जिसके भासने पर सूर्य, चन्द्र, अग्नि, मन, बुद्धि आदि समस्त आभास रूप जगत् भासित हो रहा है, जिसकी सन्निधि मात्र से देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि समस्त अपने-अपने विषयों मे बर्तते हैं । अहंकार से लेकर देह पर्यन्त और सुख आदि समस्त विषय जिस नित्य ज्ञान स्वरूप के द्वारा घट, पट के समान दृश्य रूप जाने जाते हैं - वही नित्य अखण्डानन्द अनुभव रूप अन्तरात्मा, पुराण पुरुष है जो सदा एक रूप और बोध मात्र है तथा जिसकी शक्ति से वाक् आदि इन्द्रियाँ और प्राण चलते हैं ।

यह आत्मा मन और अहंकार रूप विकारों का तथा देह इन्द्रिय और प्राणों की क्रियाओं का ज्ञाता है । विकारों का प्रकाशक होकर भी सदा निर्विकार बना रहता है । वह न जन्मता है, न मरता है, न बढ़ता है, न घटता है और न विकार को प्राप्त होता है । इस शरीर के लीन होने पर भी

असंग, निर्लेप ही रहता है जैसे घट, मठ के नष्ट होने पर भी आकाश अखण्ड ही रहता है ।

प्रकृति और उसके विकारों से भिन्न शुद्ध ज्ञान स्वरूप वह परमात्मा सत्-असत् सबको प्रकाशित करता हुआ जाग्रत् आदि अवस्थाओं में जीवभाव, अहंभाव से स्थित होता हुआ तथा बुद्धि के साक्षी रूप से साक्षात् विराजमान है ।

हे जिज्ञासु ! तू इस स्वयंप्रकाश निज आत्म स्वरूप में स्थिर चित्त होकर बुद्धि के प्रसन्न होने पर ''*यह ब्रह्म मैं हूँ*'' ऐसा अपने अन्तःकरण में साक्षात् अनुभव कर एवं जन्म-मरण रूप संसार को पार कर ब्रह्म स्वरूप में स्थित होकर कृतार्थ होजा ।

◆◆◆

आत्म स्वरूप की सिद्धि

यदि कोई अविवेकी यह समझे कि जब पाँचों कोशों को मिथ्या रूप से जान लिया तो फिर उसके अतिरिक्त केवल शून्यता ही प्रतीत होती है । फिर हम किस वस्तु को अपना आत्मा जाने ?

हे आत्मन् ! यह सब भावाभाव जिस एक के द्वारा जाने जाते हैं, अनुभव किये जाते हैं और जो स्वयं अनुभव नहीं किया जा सकता, उन सब के साक्षी आत्मा को ही तू सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा अपना स्वरूप जान । जब-जब जो कुछ अनुभव किया जाता है वह सब निज स्वरूप आत्मा के साक्षीत्व में ही किया जाता है । किसी पदार्थ, अवस्था, वृत्ति, घटना, स्वप्न, देश, काल का किसी साक्षी के बिना उन घटना का होना नहीं माना जाता । अनुभव किये घटना, पदार्थ अवस्था को कोई साक्षी द्वारा कहे जाने

पर माना जाता है । अपना यह आत्मा तो स्वयं साक्षी है; क्योंकि यह स्वयं अपने आप से ही अनुभव किया जाता है । इसलिये इस से परे कोई और अपना साक्षात् अन्तरात्मा नहीं है ।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति- इन तीनों अवस्थाओं में वह अन्तःकरण के भीतर सदा अहम्-अहम् (मैं-मैं) रूप से अनेक प्रकार से स्फुरित होता हुआ प्रत्यक् रूप से स्पष्टतया प्रकाशित होता रहता है । अहंकार से लेकर प्रकृति के इन नाना विकारों को साक्षी रूप से देखता हुआ नित्य चिदानन्द रूप से जो सत्ता स्फुरित होती है, उसी को तू अपना अन्तःकरण के साक्षी रूप अपना आपा जान ।

जिस प्रकार मूढ़ पुरुष घड़े के जल में प्रतिविम्बित् सूर्य को देखकर उसे सूर्य ही समझता है, उसी प्रकार अन्तःकरण उपाधि में स्थित चिदाभास को ही अज्ञानी पुरुष भ्रम से अपना आप ही मान बैठता है । विद्वान् पुरुष घड़ा, जल और उस में स्थित सूर्य के प्रतिविम्ब - इन तीनों को छोड़कर इन से पृथक् इन तीनों के प्रकाशक आकाश स्थित सूर्य को ही सत्य जानता है, उसी तरह देह घट में भरे बुद्धि जल में चिदाभास इन तीनों को छोड़कर बुद्धि गुहा में स्थित साक्षी रूप इस आत्मा को ही अपना स्वरूप जानता है । अखण्ड बोध स्वरूप आत्मा सब के प्रकाशक और सत्-असत् दोनों से भिन्न, नित्य, विभू, सर्वगतः, सूक्ष्म, भीतर-बाहर के भेद से रहित है । ज्ञानी इस आत्मा को भलीभाँति अपना निज रूप सोऽहम् जानकर पाप रहित, निर्मल और अमर हो जाता है । वह बुद्धिमान पुरुष शोक रहित और आनन्दघन रूप हो जाने से कभी किसी से भयभीत नहीं होता । मुमुक्षु पुरुष को आत्मतत्त्व के ज्ञान को छोड़कर इस प्रत्यक्ष भ्रान्ति रूप संसार बन्धन से छूटने का और कोई मार्ग नहीं । **नान्यः पन्था विद्यते अयनाय** । ब्रह्म और आत्मा के अभेद का ज्ञान ही भव बन्धन से मुक्त होने का कारण है, जिस के फल स्वरूप बुद्धिमान पुरुष अद्वितीय आनन्द स्वरूप ब्रह्म पद को

प्राप्त कर लेता है । ब्रह्म स्वरूपता को प्राप्त विद्वान् फिर जन्म-मरण रूप इस संसार चक्र में नहीं पड़ता । इसलिये किसी सद्गुरु उपदेश द्वारा मुमुक्षु को ब्रह्म से निजात्मा का एकत्व अच्छी प्रकार जान लेना चाहिये ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म विशुद्धं परं स्वतःसिद्धम् ।
नित्यानन्दैकरसं प्रत्यगभिन्नं निरन्तरं जयति ।।

-२२८ : वि.चू.

ब्रह्म सत्य ज्ञान स्वरूप और अनन्त है । वह शुद्ध, श्रेष्ठ, स्वतः सिद्ध, नित्य एकमात्र आनन्द रस स्वरूप, प्रत्यक् (अन्तरतम) और अभिन्न है तथा निरन्तर उन्नतिशील है । उसके पराभव करने की किसी में सामर्थ्य नहीं है ।

यह परम अद्वैत आत्मा ही एकमात्र सत्य पदार्थ है । जैसे स्वप्न संसार में एक मात्र साक्षी ही सत्य है, उसके अतिरिक्त और कोई दृश्य पदार्थ सत्य नहीं है । इसी प्रकार स्व-आत्मा के अतिरिक्त और कोई वस्तु सत्य नहीं है । इस परमार्थ स्वरूप निजात्मा को सोऽहम् रूप से बोध हो जाने पर मुमुक्षु को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से पाने योग्य कुछ नहीं रहता है ।

◆◆◆

ब्रह्म और जगत् की एकता

यह परम अद्वैत आत्मा ही एक सत्य वस्तु है; क्योंकि इस स्व-आत्मा के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं, जैसे स्वप्न से जाग्रत हो जाने पर एक साक्षी के अतिरिक्त अन्य कुछ रहता नहीं । यह सम्पूर्ण विश्व, जो अज्ञान निद्रा से नाना प्रकार का प्रतीत हो रहा है, स्वरूप बोध हो जाने पर समस्त एक निर्विकल्प ब्रह्म ही है ।

मिट्टी का कार्य होने से घड़ा उसके उपादान कारण मिट्टी से पृथक् नहीं होता; क्योंकि सब ओर से भीतर-बाहर भेद रहित एक मिट्टी में कल्पित घड़े की सत्ता ही कहाँ है ? एकमात्र नाम, रूप उपाधि रहित मिट्टि ही सत्य है, मिट्टी से पृथक् घड़े का रूप कोई भी नहीं दिखा सकता । इसलिए घड़ा मिट्टी में अज्ञान से कल्पित है । सत्य में तो एक तत्त्व स्वरूपा मिट्टी ही है ।

यहाँ इस व्यवहारिक जगत् में समस्त नाम, रूप प्रपंच एकमात्र सत् ब्रह्म ही है । ब्रह्म का कार्य यह समस्त जगत् सत्स्वरूप ही है; ब्रह्म से भिन्न यहाँ कुछ भी नहीं है । जो यह कहता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त भी कुछ है, उसका कहना स्वप्न देखने वाले पुरुष की तरह है । अभी उसका मोह दूर नहीं हुआ है । यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है - ऐसा सर्वश्रेष्ठ अथर्व श्रुति कहती है । इसलिये यह विश्व ब्रह्म मात्र है । क्योंकि अधिष्ठान में आरोपित अध्यस्त वस्तु की पृथक् सत्ता नहीं होती है । यदि यह जगत् सत्य हो तो आत्मा की अखण्डता, अनन्तता, व्यापकता, अपरिच्छिन्नता में दोष आता है और वेद भगवान की वाणी - **'वासुदेवः सर्वमिति', 'सर्वम् खल्विदं् ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किंचित्' 'द्वितीया द्वै भयं भवति'** आदि श्रुतियां मिथ्या हो जावेगी ।

यदि विश्व सत्य होता तो इस की प्रतीति जाग्रत, स्वप्न की तरह सुषुप्ति में भी होनी चाहिये थी; किन्तु सुषुप्ति में इस जगत् प्रपंच की प्रतीति नहीं होती । इसलिये यह जगत् स्वप्न के समान असत् और मिथ्या है । अधिष्ठान रस्सी ही जैसे सर्पाकार भासती है, इसी प्रकार अधिष्ठान ब्रह्म सत्ता पर ही जगत् प्रपंच रूप में आरोपित हुआ है । अज्ञानावस्था में जो कुछ भी नाम, रूप, दृश्य जगत् प्रतीत हो रहा है, वह सब ब्रह्म ही है । जिस प्रकार भ्रम से प्रतीत होने वाली चाँदी वस्तुतः सीपी ही है । 'इदम् जगत्' याने यह जगत् इसमें इदम् रूप से, यह रूप से सदा ब्रह्म ही कहा

जाता है । ब्रह्म में आरोपित जगत् तो नाम मात्र ही है ।

इसलिये परब्रह्म सत्, अद्वितीय शुद्ध विज्ञानघन, निर्मल, शान्त, अनादि-अनन्त, अक्रिय और अखण्ड आनन्द स्वरूप है । वह समस्त मायिक भेदों से रहित एक, दो, तीन - इस तरह कला रहित और इन्द्रिय प्रमाण का अविषय है । वह अलक्षण, अरूप, अव्यक्त, अनाम और अक्षय तेज है, जो स्वयं ही प्रकाशित हो रहा है । वह ब्रह्म त्रिपुटी से रहित, त्याग अथवा ग्रहण के अयोग्य, मन-वाणी का अविषय, अप्रमेय, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय : इस त्रिपुटी से रहित अखण्ड चैतन्यमात्र महान् और तेजोमय है - अनुभवी ज्ञानी उस परम तत्त्व का ऐसा विलक्षण रूप बतलाते हैं ।

◆◆◆

आत्म बोध

जो पुरुष समस्त जड़-चेतन पदार्थों के भीतर और बाहर अपने को ज्ञान स्वरूप से उनका आधारभूत देख कर समस्त उपाधियों को छोड़कर अखण्ड परिपूर्ण आत्म रूप से स्थित रहता है वह मुक्त है । संसार बन्धन से सर्वथा मुक्त होने में सर्वात्मा भाव अर्थात् सब को आत्म रूप में देखने का भाव से बढ़कर और कोई हेतु नहीं है । निरन्तर आत्मनिष्ठा में स्थित रहने से दृश्य का अग्रहण होने पर इस सर्वात्मभाव की प्राप्ति होती है । जो लोग देहात्म-बुद्धि से स्थित रहकर बाह्य पदार्थों की मन में आसक्ति रखकर उन्हीं के लिये निरन्तर काम में लगे रहते हैं । उनको संसार के प्रति सत्य एवं सुख बुद्धि ही होती है । इसलिए नित्यानन्द के इच्छुक मुमुक्षु को चाहिये कि वह समस्त धर्म, कर्म एवं विषयों को दुःख रूप जान त्याग करे । निरन्तर आत्मनिष्ठा में तत्पर हो अपने आत्मा में प्रतीत होने वाले इस दृश्य प्रपंच का प्रयत्न पूर्वक बाध करें ।

दुग्ध और जल के समान द्रष्टा और दृश्यके अलग-अलग हाने का स्पष्ट ज्ञान हो जाने पर आत्मा में छायी हुई वह आवरण शक्ति अपने आप ही नष्ट हो जाती है । यदि मिथ्या दिखने वाले पदार्थों में द्रष्टा और दृश्य पदार्थों को जान लिया जाये तो फिर विक्षेप नहीं होता । विवेकवान् पुरुष को माया, मोह बन्धन में नहीं डाल पाती । माया जनित मोह बन्धन से मुक्त पुरुष को फिर जन्म-मरण रूप संसार की प्राप्ति नहीं होती ।

ब्रह्म और आत्मा का एकत्व ज्ञान रूप अग्नि अविद्या रूप समस्त वन को भस्म कर देता है । जब जीव को अद्वैत-भाव की प्राप्ति हो जाती है, तब उसको पुनः संसार प्राप्ति का कारण नहीं हो सकता । आत्म वस्तु का ठीक-ठीक साक्षात्कार हो जाने पर आवरण का नाश हो जाता है तथा मिथ्या ज्ञान का नाश होकर विक्षेप जनित दुःख की निवृत्ति हो जाती है ।

आत्म दर्शन

आत्म दर्शन का अर्थ अपने आपको देखना या जानना है । जब तक अन्य को देखने की चाह बनी रहती है तब तक आत्म दर्शन नहीं होता है । आप को आत्म दर्शन के लिये सब ओर से दृष्टि वृत्ति मोड़ना होगा । **'मैं हूँ '** यह बोध होना ही आत्मानुभूति है । **यह** को **मैं** से अलग करते रहना और **मैं** को **यह** से अलग जानना ही आत्म दर्शन का साधन है । **यह** दृश्य के साथ **मैं** को मिला देना ही अहंकार है ।

यह रूप समस्त अनात्म दृश्य से **मैं यह नहीं हूँ** - ऐसा प्रत्येक दृश्य से **मैं**- भाव हटाते-हटाते जब केवल **मैं** ही रह जावे एवं शेष कोई दृश्य में **मैं**-भाव न रहे, तब उस असंग सत् स्वरूप की अनुभूति ही आत्मदर्शन अथवा आत्मसाक्षात्कार है ।

आत्म दर्शन के लिये शरीर, इन्द्रिय, मन, आदि किसी की आवश्यकता नहीं है, बल्कि समस्त दृश्य जगत् जिससे प्रकाशित हो रहा है **'वही आत्मा मैं हूँ'** ऐसा जानना ही आत्म दर्शन है । जिसे हम अपने से भिन्न रूप देखते हैं वह अनात्म दर्शन, आत्म दर्शन नहीं है । **दृश्य का निषेध करते -करते जब हम कहते हैं या अनुभव करते हैं कि कुछ भी नहीं बचा; तब इस अभाव के ज्ञाता स्वरूप में हम जो बचे रह गये वही आत्म साक्षात्कार अथवा आत्म का स्वरूप है ।**

दृश्यों को ही देखने में मत रह जाओ, बल्कि उस दृष्टि की ओर ध्यान करो जिससे सब दृश्य दिखाई पड़ते हैं । वही ब्रह्म या तेरा अपना सत्य रूप है ।

◆◆◆

आत्म दृष्टि

सब के साक्षी और ज्ञान स्वरूप आत्मा में अपने शुद्ध चित्त को लगाकर धीरे-धीरे निश्चलता प्राप्त करता हुआ अन्त में सर्वत्र अपने को ही परिपूर्ण देखें । अपने अज्ञान से कल्पित देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अहंकार आदि समस्त अनात्म उपाधियों से रहित अखण्ड आत्मा को महाकाश की भाँति सर्वत्र परिपूर्ण देखें । जिस प्रकार घट, कलश, महल, हाल, टंकी, कोठी, गुफा आदि सैकड़ों उपाधियों से रहित आकाश एक अखण्ड ही रहता है, उसी प्रकार अहंकारादि समस्त उपाधियों से रहित एक ही शुद्ध परमात्मा है । ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त समस्त उपाधियां मिथ्या है; इसलिए अपने को सदा एक रूप से स्थित परिपूर्ण आत्म-स्वरूप देखना चाहिये ।

जिस आधार में जिस वस्तु की भ्रम से कल्पना हो जाती है, उस

भ्रान्ति के आधार का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर वह कल्पित वस्तु भ्रान्ति दूर हो जाती है । उस अधिष्ठान से पृथक् उस अध्यस्त की पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती । जिस प्रकार रज्जु में भ्रान्ति वश प्रतीत होने वाला सर्प भ्रान्ति के नष्ट होने पर रज्जु रूप ही प्रत्यक्ष होता है तब वह एक मूल आधार वस्तु ही रह जाती है । इसी तरह अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर असत् जगत् की भ्रान्ति दूर हो जाती है और एक सर्व भ्रान्तियों का अधिष्ठान ब्रह्म ही शेष ही रह जाता है । आप ही उत्त्पत्ति कर्ता ब्रह्मा, पालन कर्ता विष्णु एवं संहार कर्ता शिव है । अपने से भिन्न कुछ नहीं है । आप ही भीतर है, आप ही बाहर है, आप ही ऊपर है, आप ही नीचे हैं, आप ही दाँये हैं, आप ही बाँये हैं - आप ही सर्वत्र सर्वरूप हैं ।

जैसे तरंग, फेन, भँवर और बुद्‌बुदे आदि स्वरूप से सब एकमात्र जल ही है, वैसे ही देह से लेकर अहंकार पर्यन्त यह सारा विश्व भी अखण्ड ब्रह्मात्मा ही है । मन, वाणी से प्रतीत होने वाला यह सारा जगत् सत् स्वरूप ब्रह्म ही है । जो महापुरुष प्रकृति से परे आत्म-स्वरूप में स्थित हैं, उनकी दृष्टि में सत् आत्मा से पृथक् और कुछ नहीं है । मिट्टी से पृथक् घट, मठ, दीप, ईंट, खप्पर आदि कुछ नहीं है । इसी तरह अज्ञान के कारण ही *मैं-तू-यह-वह* : ऐसी भेद बुद्धि होती है । किन्तु सर्वत्र सर्वरूप में एकब्रह्म ही विद्यमान है ।

कार्य रूप द्वैत का उपसंहार (लय) करते हुए - यहाँ कारण के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देखता है । ऐसी श्रुति अद्वैत का बोध कराने हेतु :

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा

- छा.उ. : ७/२४/१

मिथ्या अध्यास की निवृत्ति के लिये बारम्बार द्वैत का अभाव

बतलाती है ।

जो परब्रह्म स्वयं आकाश के समान निर्मल, निर्विकल्प, निःसीम, निश्चल, निर्विकार, बाहर-भीतर, सब ओर से शून्य, अनन्य और अद्वितीय है- वह हमारे बुद्धि ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है । इस विषय में और अधिक क्या कहना है ? जीव तो स्वयं ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण जगत्-रूप से फैला हुआ है; क्योंकि श्रुति कहती है ब्रह्म अद्वितीय है । सद्गुरु की कृपा से जिन को ऐसा बोध हुआ है कि ''**मैं ब्रह्म ही हूँ**'' वे बाह्य विषयों को सर्वथा त्यागकर ब्रह्मभाव से, सदा सच्चिदानन्द स्वरूप से ही स्थित रहते हैं ।

इस मलमय, अन्नमय कोश (स्थूल शरीर) में अहं बुद्धि से हुई आसक्ति को छोड़कर वायु रूप सूक्ष्म शरीर से भी दृढ़ता पूर्वक अहं बुद्धि का त्याग करो तथा जिस के द्वारा इन तीनों शरीरों को प्रकाश मिल रहा है, जो सर्व वृत्तियों का प्रकाशक साक्षी ब्रह्म है और वेद जिस की कीर्त्ति का गुणगान करते हैं, उस आनन्द स्वरूप ब्रह्म को ही अपना स्वरूप जानकर सदा ब्रह्म रूप से स्थिर होकर रहो । श्रुति भी यही कहती है कि मनुष्य जबतक इस मृतक् तुल्य देह में आसक्त रहता है, तबतक वह अत्यन्त अपवित्र रहता है और जन्म-मरण तथा व्याधियों का आश्रय बना रहकर उस को दूसरों से अत्यन्त क्लेश भोगना पड़ता है । किन्तु जब वह अपने कल्याण स्वरूप अचल और शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार करलेता है तो उन समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है ।

◆◆◆

आत्मानुभव

जिनका किसी भी वस्तु में राग नहीं है और भोग वासना भी सर्वथा अस्त हो गयी है तथा जिनका चित्त शान्त एवं इन्द्रियाँ संयत है, वे महात्मा संन्यासी जन ही इस परम तत्त्व को जानकर अन्त में इस अध्यात्मयोग के द्वारा परम शान्ति को प्राप्त हुए हैं । अतः हे वत्स ! तुम भी इस आत्मा के परम तत्त्व और आनन्दघन निज आत्म स्वरूप का विचार करते हुए अपने मनः कल्पित मोह को छोड़कर मुक्त हो जाओ और इस अज्ञान निद्रा से जाग्रत हो कृतार्थ हो जाओ ।

हे जिज्ञासु ! निश्चल हुए चित्त और विचार नेत्र, दिव्य चक्षु से इस आत्म तत्त्व को भली प्रकार से सोऽहम् स्वरूप देखो । क्योंकि सुना हुआ पदार्थ यदि भली प्रकार देख लिया जाय तो उस सुने हुए पदार्थ में फिर कोई संशय नहीं होता । अपने अज्ञान रूप बन्धन का संसर्ग छूट जाने से जो सच्चिदानन्द आत्मा की प्राप्ति होती है - उसमें शास्त्र, युक्ति, गुरु वाक्य और अन्तःकरण से सिद्ध होने वाला अपना अनुभव प्रमाण है ।

चंचल-शान्त, सुख-दुःख, मोक्ष, तृप्ति, चिन्ता, आरोग्य और भूख आदि तो अपने आप ही जाने जाते हैं, दूसरों को उनका जो ज्ञान होता है वह तो केवल आनुमानिक ही है । श्रुति के समान गुरु भी ब्रह्म का केवल तटस्थ रूप से बोध कराते हैं । विद्वान् को चाहिये कि अपनी ही ईश्वरानुगृहित बुद्धि से उसका साक्षात् अनुभव करके संसार-सागर के पार हो जावें । अर्थात् ब्रह्म का वर्णन किसी के द्वारा नहीं हो सकता न किसी शब्द द्वारा बताया जा सकता है । जितना भी बताया जाता है उसे वेद नेति-नेति कहकर अस्वीकार कर देता है; क्योंकि वह शब्द की शक्ति वृत्ति से बाहर है । शब्द वहाँ तक पहुँच नहीं सकता । अतः ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिये समस्त दृश्य प्रपंच का निषेध करना पड़ता है, क्योंकि शैवाल जैसे जल सरोवर को ढक् लेता है, इसी तरह इस नाम, रूप, अध्यस्त प्रपंच ने ब्रह्म को आच्छादित कर रखा है । दृश्य प्रपंच का बाध उसमें मिथ्यात्व

बोध के बिना नहीं हो सकता । अतः जगत् से मिथ्यात्व बोध होने के लिये शास्त्र कृपा, गुरु कृपा और अपनी कृपा रूप पुरुषार्थ अन्यन्त आवश्यक है ।

◆◆◆

जीवन्मुक्त के लक्षण

निरन्तर ब्रह्माकार-वृत्ति में स्थित रहने के कारण जिसकी बुद्धि बाह्य विषयों में से निकल गयी है, और जो निद्रालु अथवा बालक के समान दूसरों के द्वारा खिलाने पर खाने वाला, स्वप्न के समान संसार को असत् जानने वाला-वह क्रिया का त्याग करके परब्रह्म में चित्त को लीन कर के आनन्द स्वरूप ब्रह्म में मग्न रहता हुआ स्थितप्रज्ञ कहलाता है ।

ब्रह्म और आत्मा की एकता को सोऽहम् वृत्ति द्वारा ग्रहण करने वाली विकल्प रहित चिन्मात्र वृत्ति को प्रज्ञा कहते हैं । यह चिन्मात्र वृत्ति जिसकी स्थिर हो जाती है, वही जीवनमुक्त कहलाता है । जिसकी प्रज्ञा (बुद्धि) स्थिर है, जो निरन्तर आत्मानन्द का अनुभव करता है और प्रपंच को भूला-सा रहता है, वह पुरुष पृथ्वी पर धन्य है, सर्व पूज्य है और वही जीवन्मुक्त है ।

वृत्ति के रहते हुए भी जो जागता रहता है - इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि उसका चित्त संपूर्ण दृश्य पदार्थों का बाध करके निरन्तर ब्रह्म में लीन रहता है तथापि वह सोये हुए पुरुष के समान संज्ञा शून्य नहीं होता । वह संसार का सब के साथ उचित व्यवहार करता रहता है; किन्तु व्यवहार करते हुए भी उसे स्वप्न की तरह मिथ्या समझने के कारण उसकी अन्य पुरुषों के समान दृश्य पदार्थों में आस्था नहीं होती । इसलिए वह जाग्रत जगत् के व्यवहारों से रहित ही माना जाता है । जिसकी संसार वासना शान्त हो गई है, जो कलावान होकर भी कलाहीन है अर्थात्

व्यवहार दृष्टि में ऊपर से विकारवान प्रतीत हुआ भी जो निरन्तर अपने निर्विकल्प स्वरूप में ही स्थित रहता है तथा जो चित्त युक्त होकर भी निश्चिन्त है - वह पुरुष जीवन्मुक्त माना जाता है ।

प्रारब्ध की समाप्ति पर्यन्त छाया के समान् सदैव साथ रहने वाला इस शरीर के विद्यमान् रहते हुए भी इसमें मैं-मेरा पन, अहं-मम भाव का अभाव हो जाना जीवन्मुक्त का लक्षण है ।

बीती हुई बात को याद न करना, भविष्य की चिन्ता न करना और वर्तमान में प्राप्त हुए सुख-दुःखादि में साक्षी बने रहना - यह जीवन्मुक्ति का लक्षण है । अपने आत्म स्वरूप से सर्वथा पृथक् इस गुण दोषमय सांसार में सर्वत्र समदर्शी होना जीवन्मुक्त का लक्षण है । इष्ट अथवा अनिष्ट, अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्राप्ति में समान भाव रखना, दोनों ही अवस्थाओं में चित्त में कोई भी विकार न होना जीवन्मुक्त पुरुष का लक्षण है ।

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि में और कर्तव्य में जो ममता और अहंकार रहित होकर उदासीनता पूर्वक रहता है - वह पुरुष जीवन्मुक्त है ।

जो पुरुष अपनी तत्त्व विवेचन बुद्धि से आत्मा, ब्रह्म और इदम् रूप दृश्य संसार में कोई भेद नहीं देखता है - वह पुरुष जीवन्मुक्त है ।

साधु पुरुषों के सत्कार किये जाने पर और दुष्ट जनों में पीड़ित होने पर भी जिसकी चित्त वृत्ति राग-द्वेष रहित सम भाव, साक्षी भावमें स्थित रहता है - वह जीवन्मुक्त माना जाता है ।

समुद्र में मिल जाने पर जैसे नदी प्रवाह का नाम, रूप जल सब समुद्र हो जाता है वैसे ही दूसरों के द्वारा प्रस्तुत किये विषय, आत्म- स्वरूप प्रतीत होने से जिस के चित्त में क्षोभ उत्पन्न नहीं होता - वह श्रेष्ठ जीवन्मुक्त है ।

ब्रह्म तत्त्व को जान लेने पर ज्ञानी पुरुष को अज्ञान काल की तरह संसार के प्रति सत्य एवं सुख बुद्धि नहीं रहती । यदि संसार की आस्था मन में बनी रही तो समझना चाहिये कि वह तो संसारी ही है । उसे ब्रह्म तत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ । जिस को देह और इन्द्रियादि में अहं भाव तथा अन्य वस्तुओं में मम भाव कभी नहीं होता वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है ।

निर्भय रहो

हे आत्मन् ! यह मन, बुद्धि, आदि अपने व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं और उन व्यवहारों में हानि, लाभ भी होता है, किन्तु तू विकार रहित साक्षी आत्मा को यह मनादि कुछ हानि नहीं करते । तू इनसे व्यर्थ राग-द्वेष न कर । तू उनके प्रकृति से निश्चित किये हुए इन्द्रिय स्वभावों में रूकावट भी मत डाल । तू अपने द्रष्टा साक्षी स्वभाव में ही अचल रह । तेरे लाखों उपायों द्वारा भी उनके स्वभाविक धर्मों की निवृत्ति नहीं हो सकेगी ।

तुझ चैतन्य आकाश को वायु रूप मन कैसे बाधा पहुँचा सकेगा ? गुणों के द्वारा गुण ही भोग करते हैं । अपंचीकृत पंच भूत के मिलित सात्विक अंश का मन, अपंचीकृत पंचभूत के रजोगुण से निर्मित कर्मेन्द्रिय एवं प्राणों के सयहोग से तमोगुण के कार्य शब्दादिक विषय को ग्रहण करते हैं, उससे तुझ असंग, निर्विकार, साक्षी, आत्मा को क्या आपत्ति ? पीड़ा संताप भोगने वाला मन है और तू इस मनोदशा का साक्षी है । ऐसा निश्चय कर सुखी शान्त रह ।

हे आत्मन् ! विषय इन्द्रिय जन्य सुख-दुःख का अनुभव जैसा अज्ञान काल में अज्ञानी को होता है वैसा ही इन्द्रिय विषयों का व्यवहार एवं सुख-दुःख ज्ञानोपरान्त ज्ञानी को भी होता है । दोनों के देह संघात् के

व्यवहार में कोई अन्तर नहीं पड़ता । अज्ञानी की तरह रूप, गन्ध, स्वाद, श्रवणादि ज्ञानी को भी वैसे ही भासमान होते रहते हैं । ज्ञान कोई रोग नहीं जो इन्द्रियों के उचित अनुचित व्यवहार को नहीं जान सके । केवल मन का संकल्प पहले की अपेक्षा विलक्षण हो जाता है । याने देहकार वृत्ति से हटकर आत्माकार वृत्ति बन जाती है । बस इतने फेर से ही बन्ध-मोक्ष का भेद कल्पित हुआ है । तुम इन दोनों अवस्थाओं के अनुभव करने वाले साक्षी सच्चिदानन्द रूप आत्मा हो । यही निश्चय करना चाहिये ।

स्वप्नावस्था में नाना प्रकार के दृश्य दिखाई पड़ते हैं, किन्तु जागने पर सब भ्रम मात्र जानने में आते हैं, उसी प्रकार अज्ञान निद्रा दोष के कारण ही अपने स्वरूप को न जानने के कारण नाना प्रकार की भ्रान्ति प्रतीत होती है । जब सम्यक् प्रकार से ज्ञानोदय हो जवेगा तब तू निर्भयता को प्राप्त हो सकेगा ।

एकबार शुद्ध दर्पण में अपना मुख देखने के पश्चात् अपने रूप के प्रति भ्रान्ति नहीं होती । इसी प्रकार एकबार सद्गुरु द्वारा अपने प्रत्यक् आत्मा को बन्ध-मोक्ष धर्म से रहित जान लिया तो फिर उसे अपने स्वरूप में बन्ध की भ्रान्ति एवं मोक्ष प्रप्ति की इच्छा जाग्रत नहीं होती । परन्तु सम्यक् आत्मज्ञान रहित अज्ञानी पुरुष अपने में बन्ध की कल्पना करके उसकी निवृत्ति रूप मोक्ष प्राप्ति हेतु अनेक कष्ट प्रद साधन करने का दुःख भोगता रहता है । और फिर सद्गुरु की कृपा से आत्म विचार कर प्राप्त परमात्मा (मोक्ष, आनन्द) का ही अनुभव करता है ।

◆◆◆

मति से गति

जब शास्त्र सद्गुरु कहते हैं की सब राम है, सिया राममय जगत् है, तब तुम दास रूप अपने को मानकर उस की अखण्ड व्यापक सत्ता को खण्डित क्यों कर मान रहे हो ? एक अस्ति-भाति-प्रिय रूप ब्रह्म सत्ता में, *मैं दास हूँ* अर्थात् स्वामी, दास भाव ऐसी भेद कल्पना करना पाप है । देह संघात् का धर्म स्वप्नवत् है । तू अपने स्वरूप को राम का यथार्थ स्वरूप जान । राम को अपना आत्मा सम्यक् अपरोक्ष जान । राम को निजात्म रूप मानना ही यथार्थ ज्ञान है । अन्य मनोभाव माया मात्र है । माया के भजन चिन्तन से क्या लाभ ? '*जैसी मति वैसी गति*' के अनुसार देवभाव वाले देवता को , पितृभाव वाले पितृों को, भूत भाव वाले भूत को एवं आत्म भाव वाले अखण्डता को ही प्राप्त होते हैं । क्योंकी जैसी भावना होती है उसी की अनुरूप गति होती है । मैं अस्ति-भाति-प्रिय अथवा सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा हूँ - ऐसी भावना की जावेगी तो ब्रह्म रूप की प्राप्ति होगी ।

जैसा अज्ञानी लोगों को अपने देह के प्रति मैं भाव, संशय रहित अपरोक्ष रूप सदा बना रहता है उसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं समस्त प्रपंच का जो प्रकाशक है वह अनन्त, नित्य सच्चिदानन्द ब्रह्म निश्चय से मैं हूँ - इस प्रकार की अपरोक्ष दृढ़ बुद्धि होना ही आत्म साक्षात्कार है । तथा बुद्धि के इस आत्माकार वृत्ति जानने वाला **मैं** उससे भी परे सर्वथा पृथक् जानने में न आने वाला अवाङ्मनसगोचर स्वयं प्रकाश साक्षी आत्मा हूँ - ऐसा अनुभव होना ही परमावस्था है । यही परम पद है । यही परम साक्षात्कार है ।

बन्ध निवृत्ति एवं मोक्ष प्राप्ति हेतु किसी प्रकार के शरीरिक, मानसिक अथवा वाणी द्वारा कोई साधन कर्तव्य नहीं है । क्योंकि बन्ध-मोक्ष अपने स्वरूप के अज्ञान से भ्रम मात्र प्रतीत होते हैं । तात्पर्य यही कि अपने स्वरूप को सम्यक् न जानना ही बन्धन है तथा सम्यक् जानना ही

मोक्ष है । इससे पृथक् कोई बन्ध-मोक्ष पदार्थ नहीं, जिसका जीव ग्रहण-त्याग कर सके । इस भ्रम निवृत्ति हेतु ही गुरु शास्त्र का योग दान आवश्यक है । परन्तु मोक्ष रूप ब्रह्मात्मा की प्राप्ति में गुरु शास्त्र उपयोगी नहीं है । यह भी अज्ञान ही है कि मैं पूर्व में अज्ञानी एवं बद्ध था, अब मैं गुरु कृपा से ज्ञान द्वारा मुक्त हुआ हूँ । आत्मा में तीनों कालों मे बन्ध नहीं है । बंध मोक्ष की भ्रान्ति मन में ही है और मैं मन का साक्षी नित्य मुक्तात्मा हूँ ।

◆◆◆

अखण्ड ब्रह्म

सर्वं खल्विदं ब्रह्म - ब्रह्म सर्व कैसे ? सब में एक परमात्मा की भावना रखना ही सब शास्त्रों एवं संत महापुरुष द्वारा बताया गया है । जब सर्वत्र एक ब्रह्म भावना करना है तो क्या तुम उस सर्वत्र व्यापक तत्त्व परमात्मा से भिन्न रह सकोगे ? जब तुम ब्रह्म होगे तभी तो सर्व ब्रह्म हो सकेंगे । यदि तुम ब्रह्म नहीं तो फिर तुम्हारे बिना अन्य कोई अखण्ड व्यापक ब्रह्म नहीं हो सकेगा । तुम से उसकी अखण्डता बनी है । तुम्हें छोड़ वह अखण्ड नहीं रह सकेगा । इस प्रकार तो उस के भिन्न-भिन्न देह उपाधि से खण्ड-खण्ड हो जावेंगे । जो सब के भीतर चैतन्य आत्मा रूप से विद्यमान है उसकी उपेक्षा करके जड़, पाषाण, धातु, काष्ठ, चित्र-मूर्ति की उपासना करता है वह भक्ति नहीं है, प्रत्युत साक्षात् चैतन्य देव का अपमान ही है । इसी अपराध के कारण जीव को ८४ लाख योनियों का कारावास दंड भोगना पड़ता है । ईश्वर दर्शन करना याने स्वयं ईश्वर रूप होना है । क्योंकि ईश्वर से भिन्न कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो ईश्वर न हो या जिसमें इश्वर न हो । वही सर्व है, वही केवल है ।

पत्थर, धातु, काष्ठ, प्लास्टिक्, मिट्टी, कागज पर शिल्पी,

चित्रकार, पेन्टर द्वारा नाना रूप की मूर्तियाँ बनाई जाती है । अज्ञानी उन चित्र आकृति को ही सत्य रूप देखता है । किन्तु उन रस्सी में सर्प की तरह अध्यस्त मूर्तियों को अधिष्ठान आधार वस्तु धातु, काष्ठ, पाषाण, प्लाष्टिक्, वस्त्र या कागज आदि को नहीं देखता ।

विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रत्येक कार्य का दर्शन उस के उपादान कारण सहित ही हमेशा होता है । बिना मिट्टी दर्शन के घड़ा, दीपक, ईंटा, गणेश, दुर्गा के दर्शन नहीं हो सकते । बिना स्वर्ण दर्शन के अलंकार की प्रतीति नहीं हो सकती । आधार दर्शन पूर्वक ही सब कल्पित् वस्तुओं का दर्शन होता है ।

उसी प्रकार नाम, रूप दृश्य जगत् का दर्शन उस के अधिष्ठान आधार अस्ति-भाति-प्रिय रूप सामान्य ब्रह्म सत्ता के सहित ही होता है । परन्तु नित्य आधार स्वरूप परमात्मा अविवेकी की दृष्टि में नहीं आता । वह ऐसा नहीं जानता कि आधार सहित ही आधेय का, कारण सहित ही कार्य का या अधिष्ठान सहित ही अध्यस्त की प्रतीति होती है । बिना आधार दर्शन के आधेय दृश्य जगत् कभी दृष्टि गोचर हो नहीं सकता । इसलिये ज्ञानी की जहाँ पर दृष्टि जाती है वह सर्व रूप में एक ब्रह्म ही देखता है ।

‘यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधयः’

हे आत्मन् ! तू मुक्ति की चाह करता है । बस यही तेरा स्वयं का बनाया हुआ बन्धन है; क्योंकि तू स्वयं मुक्त स्वरूप है । तुझे बन्धन है - यह मात्र भ्रान्ति है । क्योंकि तेरे ऊपर तेरे से बलिष्ठ कोई अन्य नहीं है जो तुझे बन्धन में डाल सके और बन्धन को तोड़ सके । **‘मत्तः परतरं नान्य किंचिदस्ति’** । यह बन्ध-मोक्ष, राग-द्वेष, काम-क्रोधादि अन्तःकरण के धर्म है । अतः तू मन के धर्म में अहंकार मत कर, प्रत्युतः अपने को देह

संघात से सदा असंग, साक्षी जान । नश्वर नाम,जाति, लिंग की तरह आत्माभिमान को बुद्धि में दृढ़ता से ग्रहण कर । इसी का नाम भजन है । इसी अभेद चिन्तन को अभेद भक्ति भी कहते हैं । अपने को मन, बुद्धि आदि संघात का द्रष्टा और देह संघात् को मिथ्या जानना ही स्वरूप ज्ञान है । अपने सहित सर्व अस्ति-भाति-प्रिय रूप आत्मा ही है - यह निश्चय परम निर्विकल्प अवस्था है ।

जब तक तेरी बुद्धि में परमात्मा को जानना, प्राप्त करना शेष है- ऐसा यदि तुझे लगता है तो अभी तक तुम्हे स्वरूप के अप्राप्ति की भ्रान्ति बनी हुई है । जब चाहना, अचाहना, जानना, न जानना अपने में शेष न रहे, तब निश्चय से जानना कि अब स्वरूप की प्राप्ति हुई है । जब तू ही एक मात्र है तो कौन किसे जानना चाहेगा ? तू तो स्वयं विष्णु, राम, कृष्ण, दुर्गा, गणेश, शिव आदिक समस्त नाम, रूपात्मक दृश्य जगत् का प्रकाशक स्वयं प्रकाश, स्वयंसिद्ध, सर्व प्रकाशक एवं सर्वात्मा है ।

◆◆◆

अधिष्ठान

अधिष्ठान के अज्ञान से ही अध्यस्त पदार्थ की प्रतीति होती है और अधिष्ठान के ज्ञान से भ्रान्ति से प्रतीत होने वाले अध्यस्त पदार्थ की निवृत्ति होते देखी जाती है । यह सर्व विदित् है कि मंद अन्धकार के कारण अधिष्ठान रस्सी के अज्ञान से अध्यस्त सर्प की प्रतीति होती है और अधिष्ठान रस्सी को जब प्रकाश में देख लिया जाता है तब अध्यस्त सर्प ज्ञान की बुद्धि से निवृत्ति हो जाती है । उसी प्रकार आत्म स्वरूप के ज्ञान के अभाव में प्रपंच की प्रतीति होती है एवं उससे होने वाले दुःख की प्राप्ति होती है । किन्तु सद्गुरु की कृपा से जब आत्म-बोध जाग्रत हो जाता है,

तब आत्मा का अज्ञान निवृत्ति हो जाने से जगत् प्रपंच और उसके सम्बन्ध से होने वाले दुःख बन्धन की भी निवृत्ति एक साथ हो जाती है । इसलिए संसार बन्धन से छूटने के लिये विद्वान को सद्गुरु द्वारा तत्त्व सहित आत्म पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

जैसे लोहार द्वारा अग्नि के संयोग से पूर्ण तप्त लोह पिण्ड नाना प्रकार के आकारों को धारण कर लेता है, उसी प्रकार के संयोग से एक बुद्धि ज्ञान - शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के विषयों के रूप में प्रकाशित होता है । यह द्वैत प्रपंच मिथ्या बुद्धि का कार्य होने से मिथ्या है । अहंकार से लेकर देह पर्यन्त प्रकृति के जितने भी कार्य हैं वे सब क्षण-क्षण में बदलने वाले होने से असत्य है । मैं आत्मा तो समस्त परिवर्तनों का साक्षी सदा अपरिवर्तनशील एक रस रहता हूँ । जो अहम् रूप से, मैं रूप से लक्षित होता है वह नित्य आनन्दघन परमात्मा तो सदा ही अद्वितीय, अखण्ड, चैतन्य स्वरूप, बुद्धि आदि का साक्षी सत्-असत्, से भिन्न और प्रत्यक् (अन्तरतम) है । विद्वान् पुरुष द्रष्टा-दृश्य, सत्-असत्, जड़-चेतन का विवेक कर अपनी ज्ञान दृष्टि से असत्, जड़, दृश्य से मुक्त होकर अखण्ड बोध स्वरूप आत्म भाव में शान्त रहता है ।

◆◆◆

प्राप्त की प्राप्ति

संसार की कोई भी अप्राप्त वस्तु जानने मात्र से इच्छुक व्यक्ति को नहीं मिलती । संसार साधन साध्य है और क्रिया के बाद कर्ता को जो भी पदार्थ मिलता है वह नश्वर संसार ही होगा । परमात्मा जानने मात्र से इसलिए मिल जाता है कि वह कभी अप्राप्त नहीं था, वह कभी खोया ही नहीं था, इसलिए उसे पाने हेतु किसी प्रकार का साधन कर्तव्य नहीं है । वह मुझे प्राप्त नहीं है- ऐसा जो अज्ञान है - वह सद्गुरु द्वारा ज्ञान प्राप्त होने से दूर

हो जाता है ।

ब्रह्मात्म ऐक्य अनुभव ही मुख्य साधन है । बिना आत्मा तथा ब्रह्म के एकत्व ज्ञान का अनुभव किए सब साधन व्यर्थ है । श्वेत. उप. ३/८

परमात्मा न भीतर है न बाहर है, न यहाँ न वहाँ, न इह लोक में है न परलोक में । वह सर्वत्र होने से हमारे पास है, सर्वकाल में होने से अभी है, सर्व रूप होने से हमारे रूप में भी है । तब हम उसे पाने हेतु अन्य देश में क्यों जावें ? तब हम उसे पाने हेतु कोई भी साधन क्यों करें ? तब हम अन्य रूप में देखने के लिये क्यों ध्यान प्रार्थना करें ? उसे तो मात्र जानना है कि जिसे में साधन द्वारा अन्यत्र, अन्य रूप में खोज रहा था, वह मैं स्वयं हूँ । संसार के पादर्थ हम से दूर होने से उनको जानने के बाद पाना शेष रहता है; क्योंकि वे हम से पृथक् हैं; किन्तु परमात्मा तो किंचित् भी भिन्न नहीं होने से केवल चिन्तन मात्र के मिल जाता है, इसलिए कि वह हमारा अपना स्वरूप ही है ।

कस्तुरी कुण्डल बसे, मृग ढून्ढे मन माहि ।
आत्म प्रभु घट में बसे, मूरख ढून्ढन जाहि ।।

ब्रह्म को जानना इस प्रकार जानना नहीं है जैसे हम अन्य वस्तुओं को जानते हैं । परमात्मा नित्य प्राप्त हमारा स्वरूप होने से उसे पाने के लिये यज्ञ, जप, तप, ध्यान, समाधि की आवश्यकता नहीं होती है । अज्ञान के कारण ही जीव ब्रह्म को अपने से पृथक् मान ढूंढता दुःख पा रहा है । लेकिन अज्ञान दूर होते ही वह अपने ***मैं*** रूप में ही पा जाता है ।

वह दिखायी न देने वाला किन्तु सब को देखने वाला है, सुनायी न देने वाला किन्तु सब सुनने वाला है । वह मन के द्वारा मनन की विषय नहीं,

किन्तु मन के मनत्व को जानने वाला है और बुद्धि के द्वारा सर्वथा जानने में न आने वाला किन्तु वह बुद्धि का विशेष रूप से ज्ञाता है । वही तुम्हारा हमारा आत्म अन्तर्यामी अमृत है, इससे भिन्न सब नाशवान् है । -

बृहदा. ३/७/२३

वह द्वैतता से रहित अद्वय होने से उसे कौन जान सकेगा ? उससे भिन्न तो सब नाशवान जड़ है । जड़ कभी चेतन को जान नहीं सकता । उस स्वयं प्रकाश चैतन्य के प्रशासन में ही सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह, ऋतुएँ समस्त लोक, भूत चराचर देव, मनुष्य, यक्ष, कीट, पतंगाति गति करते हैं ।

मोक्ष किसी देहान्तर प्राप्ति या भावान्तर प्राप्ति का विषय नहीं है । यदि ऐसा माना जायेगा तो सम्पूर्ण उपनिषद् निश्चित सिद्धान्त ब्रह्मात्मैक्य रूप सिद्धान्त बाधित हो जायेगा तथा मोक्ष कर्म निमित्तक हो जायेगा, ज्ञान निमित्तक नहीं रहेगा । लेकिन यह सिद्धान्त वेद विरुद्ध है । यदि मोक्ष को कर्म, उपासना का फल माना जावेगा तो वह मोक्ष अनित्यता दोष वाला स्वीकार करना होगा । क्योंकि कर्म से उत्पन्न होने वाला फल एवं स्वर्गादिक लोक अनित्य है । जबकि मोक्ष आत्मा का स्वभाव होने से नित्य है । अस्तु नित्य प्राप्त मोक्ष की प्राप्ति अनित्य कर्मों से कभी भी नहीं हो सकेगी । मोक्ष तो आत्मा का अग्नि उष्णतावत् नित्य स्वभाव है । आत्मा का मोक्ष साधन साध्य अनित्य तत्त्व नहीं है ।

आत्मा कहीं खोया एवं गया नहीं । तब खोजने वाला ही अपने आप को खोज रहा है । जब वह खोजना बन्द कर स्वरूप का विचार करेगा तब वह अपने प्राप्त स्वरूप को ही प्राप्त करेगा । स्वरूप अज्ञान से परमात्मा प्राप्त होते हुए भी अप्राप्त सा लगता है । अज्ञान निवृत्ति ही प्राप्त परमात्मा की प्राप्ति का साधन है ।

प्रकाश के होते ही जैसे अन्धकार विलीन हो जाता है, अन्धकार हटाने हेतु किसी अन्य प्रकार की चेष्टा नहीं करना पड़ता । इसी तरह बन्ध निवृत्ति हेतु केवल बोध स्वरूप आत्मा को जानना है कि ''वह मैं हूँ'' बस इतना ही कर्तव्य रूप साधन है । बन्ध निवृत्ति एवं मोक्ष प्राप्ति हेतु अन्य कर्म, उपासना, योगादि साधनों को करने की आवश्यकता नहीं है ।

◆◆◆

स्वधर्म पहचाने

अन्तःकरण को अपने से पृथक् देख लिया तो अज्ञान ग्रन्थि कट गयी । अब कोटि-कोटि वस्तुओं की इच्छा हो तो भी कोई बन्धन नहीं । जो लोग अन्तःकरण में पदार्थ की इच्छा के उदय होने से आत्मज्ञान का नाश मानते हैं, उनका वेदान्त सम्बन्धी संस्कार ही ठीक नहीं है । वेदान्त व्यवहार का विरोध नहीं करता है । मन में विक्षेप आ जावे तो ज्ञान निष्ठा को मत छोड़ो । छोटी-छोटी बातों को इतना न पकड़ो कि उद्येश्य ही छूट जावे । छोटो-छोटे कीड़े मर जाने के भय से खेती करने का उद्येश्य ही न छूट जावे । ज्ञान का काम इन्द्रियों के स्वभाव, वस्तु का स्वाद मिटा देना नहीं बल्कि सत्यका स्वरूप समझा देना है । मैं आत्मा हूँ - यही स्वधर्म है ।

''अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एवं च''

''इन्द्रियाणां मनश्चास्मि''

संसारी को कर्म से विक्षेप होता है, इसीलिए मन एकाग्र करने, ध्यान, समाधि लगाने का कष्ट पाता है । ज्ञानी जानता है कि सर्वत्र एक परमात्मा मैं ही हूँ तब मन कहाँ है ? यदि मन जाता भी है तो मुझसे बाहर

जाने का रास्ता कहाँ है ? अतः सब इन्द्रिय देह संघात परमात्मा ही है, परमात्मा में ही है एवं परमात्मा में ही लगे हुए है ।

ज्ञानी के मन में कोई कामना नहीं; इसलिए उसे किसी प्रकार के धर्मानुष्ठान करने की जारूरत नहीं । अहंकार न होने से भक्ति और अज्ञान न होने से उसे वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन की भी आवश्यकता नहीं होती है । मन प्रतिक्षण बदलता रहता है । किसी वस्तु व्यक्ति में स्थिर नहीं रहता । तब उसमें राग-द्वेष कहाँ है ? मैं ब्रह्म हूँ - इस प्रज्ञा को मत खोओ । जहाँ विवेक नहीं वहाँ किसी प्रकार की सिद्धि नहीं होती । ध्यान, समाधि एवं परोक्ष ज्ञान से अज्ञान, देहाध्यास नहीं कटता है ।

ब्रह्मज्ञान कोई नूतन वस्तु को प्राप्त कराने जैसा कार्य नहीं है कि जिसको पाकर मन सुख का अनुभव कर सकेगा । साधक बन्धन भ्रान्ति से छूटने के लिये केवल अज्ञान दृष्टि, देह दृष्टि का त्याग करना ही कर्तव्य है । जिस आत्मा को तुम जानने की इच्छा करते हो वह तो वास्तव में तुम ही हो । जो कभी खोया नहीं उसे खोजना नहीं केवल जानना है ।

आत्मा प्राप्त करने की वस्तु नहीं है वह विद्यमान् है और वह तुम हो । बस इतना ही तुम श्रद्धा विश्वास से निश्चय पूर्वक जान लो और निश्चिंत हो जाओ । आत्म प्राप्ति के सम्बन्ध में बस इतना ही तुम्हारे करने योग्य साधन है ।

यदि आत्मा को प्राप्त करने का विषय बना लिया तो उसका यह अर्थ हुआ कि अभी यहाँ नहीं है, उसे नये सिरे से प्राप्त करना है । तो ऐसी वस्तु फिर खो जाने वाली है या नष्ट हो जाने वाला ही होगी । जो अनित्य है उसे कष्ट प्रद साधन द्वारा प्राप्त करने का लाभ ही क्या ? अतः सहज साधन यही है कि आत्मा को प्राप्त करने के मन से संकल्प उठने से पूर्व ही मैं आत्मा हैं । मैंने आत्म साक्षात्कार नहीं किया है - इस विचार को ही मन

से निकाल देना है । केवल आत्मा में अहंभाव मैं पन रखो । परमात्मा वस्तुतः अपना आत्मा ही है । अपने आत्मा में प्यार याने परमात्मा से ही प्यार है और इसीका नाम भक्ति, योग एवं ज्ञान है ।

मैंने अभी आत्म साक्षात्कार नहीं किया है - यह सोचना ही स्वतःसिद्ध स्थिति से च्युत होना है । यह ही बन्धन है । मैं अभी अज्ञानी हूँ और अभी मुझे आत्म प्राप्ति करनी है - यह कुविचार ही मन से हटा देना है । कारण कि तुम स्वयं आत्मा इसी समय, इसी दशा, इसी रूप में हो । तुम अपने नित्य प्राप्त स्वरूप का विचार न कर अन्यत्र खोजने की साधना में लगे इधर-उधर भाग क्यों दुःख भोग रहे हो ? चाहे जो साधन को स्वीकार करो किन्तु अन्त में तो आत्मज्ञान में ही आना होगा । तब ही दुःखों से, चिन्ताओं से, भय से एवं समस्त भ्रान्तियों से छुटकारा प्राप्त होगा । तो फिर अभी से क्यों न आत्मज्ञान की ओर चला जाये जिस से शिघ्रातिशीघ्र शान्ति लाभ हो ।

आत्म साक्षात्कार न ब्रह्मचारी को प्राप्त होने की वस्तु है न संन्यासी को, मैं गृहस्थ हूँ - यह विचार भी मन में मत लाओ । कारण कि आत्मा यहाँ, अभी और तुम्हारे रूप में नित्य विद्यमान है । यदि ध्यान करते समय मन चंचल हो उठे तो उसे रोको मत् । तुम दुःखी भी मत बनो । उसे केवल देखते रहो । ध्यान की सफलता केवल इसी में है कि भीतर छिपी गन्दगी बाहर निकल जावे । यदि बाहर नहीं आने देंगे तो मन शुद्ध कैसे होगा ? बस जो काम करते हो उस समय ऐसा विचारो कि यह काम मेरा नहीं । अपने को क्रिया एवं उसके फल भोग का द्रष्टा माने तो ध्यान सफल हो गया ।

◆◆◆

नानात्व निषेध

वास्तव में सर्वत्र परिपूर्ण, अनादि, अनन्त, अप्रमेय और अविकारी एक अद्वितीय ब्रह्म ही है - ऐसा श्रुति कहती है । उसके अतिरिक्त और कोई दूसरा पदार्थ नहीं है । जो घनीभूत सत-चित्-आनन्द है, वह एक, नित्य, अक्रिय, अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य वस्तु है, उसमें नानात्व पदार्थ कोई नहीं है । जो अन्तरात्मा, एकरस, परिपूर्ण, अनन्त और सर्वव्यापक है, ऐसा वह एक अद्वितीय ब्रह्म ही है जो न त्याज्य है, न ग्राह्य है और न किसी में स्थित होने योग्य है तथा जिसका कोई अन्य आधार नहीं है एवं वही सर्वाधार सर्वाधिष्ठान एक अद्वितीय ब्रह्म सत्य है; उसमें नाना पदार्थ कोई नहीं है ।

जिसका रूप वर्णन नहीं किया जा सकता तथा जो मन और वाणी का भी विषय नहीं है, ऐसा वह एक अद्वितीय ब्रह्म ही है जो गुण और कलाओं से रहित सूक्ष्म, निर्विकल्प और निर्मल है । जो सत्य, वैभव पूर्ण, स्वतःसिद्ध शुद्ध बोध स्वरूप और उपाधि रहित है - ऐसा वह एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है । उसमें नाना पदार्थ कुछ भी नहीं है । वेदान्त का सिद्धान्त तो यही है कि मैं और सम्पूर्ण जगत् केवल ब्रह्म ही है और उस अद्वितीय ब्रह्म में निरन्तर मैं रूप से अखण्ड स्थित होना ही मोक्ष है । ब्रह्म अद्वितीय है - इस विषय में श्रुतियाँ कहती है कि :

नेह नानास्ति किंचन्

एक अखण्ड ज्ञान सीतावर । - रामायण

"अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एवं च"

भेद में भय

जब कभी यह विद्वान् अनन्त ब्रह्म में अणु-मात्र भी भेद दृष्टि

करता है तभी इसको भय की प्राप्ति होती है; क्योंकि स्वरूप के प्रमाद से ही अखण्ड आत्मा में भेद की प्रतीति होती है । जिसने जीवित अवस्था में जीवन्मुक्ति प्राप्त करली है, उसी ज्ञानी पुरुष की देहपात के बाद कैवल्य मुक्ति होती है । जो आत्मा से थोड़ा भी किसी को पृथक् मानता है, उसे भय की प्राप्ति होती है ।

मृत्यु स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति । - कठ. उप

श्रुति, स्मृति और सैकड़ों युक्तियों से निषिद्ध हुए इस दृश्य देहादि में जो सुखबुद्धि, आत्म बुद्धि करता है - वह निषिद्ध कर्म करने वाले चोर की तरह दुःख पर दुःख भोगता है । जो सद्गुरु शरण ग्रहण कर अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप की खोज करता है वही मुक्त होकर अपने नित्य आत्म स्वरूप को प्राप्त करता है । और जो मिथ्या दृश्य पदार्थों के पीछे पड़ा रहता है उसका जीवन नष्ट हो जाता है । मुमुक्षु को चाहिये कि अनित्य पदार्थों से सुख बुद्धि, आत्म बुद्धि का त्याग कर - **यह साक्षात् ब्रह्म ही मैं हूँ-** ऐसी आत्म दृष्टि में ही स्थिर होकर रहे । बाह्य विषयों में सुख बुद्धि करने से अपने दुःख रूप फल को ही उत्तरोत्तर बढ़ता है । इसलिए विवेक पूर्वक आत्म स्वरूप को जानकर बाह्य विषयों को छोड़ता हुआ नित्य आत्मानुसन्धान ही करता रहे ।

बाह्य पदार्थों का मन से निषेध कर देने पर मन में आनन्द होता है और मन में आनन्द का उद्रेक होने पर परमात्मा का भली प्रकार से साक्षात्कार होने पर संसार बन्धन का नाश हो जाता है । इस प्रकार बाह्य वस्तुओं का निषेध ही मुक्ति का मार्ग है । सत्-असत् विवेकी ज्ञानी, मुक्ति की इच्छा रखने वाला मुमुक्षु अपने पतन के लिये असत् पदार्थों को ग्रहण करने की इच्छा नहीं करे ।

जिस की देहादि अनात्म वस्तुओं में आसक्ति है उसकी मुक्ति नहीं

हो सकती और जो मुक्त हो गया है उस आत्म निष्ठ पुरुष को देहादि अनात्म वस्तुओं में अभिमान एवं आसक्ति नहीं हो सकती, जैसे सोये हुए पुरुष को और स्वप्नावस्था वाले को जाग्रत अवस्था का अनुभव नहीं हो सकता; क्योंकि यह दोनों अवस्थाएँ भिन्न होती है । अनुभव की हुई अवस्था का ही अनुभव कर्ता को स्मृति ज्ञान होता है ।

◆◆◆

स्वरूप चिन्तन

चित्त को अपने लक्ष्य ब्रह्म भाव, सोऽहम् चिन्तन में दृढ़ता पूर्वक स्थिर कर बाह्य इन्द्रियों को उनके विषयों में विचरण करते हुए जाने । **गुणा गुणेषु वर्तन्त** - अर्थात् गुण ही गुण के द्वारा गुण को ग्रहण करता है । देह की किसी अवस्था में अहं बुद्धि न करें । इस प्रकार ब्रह्म और आत्मा की एकता का दृढ़ बोध करके वह मैं हूँ - इस तन्मय भाव से, अखण्ड वृत्ति से अहर्निश देह के नाम, जाति की तरह मन ही मन सोऽहम् चिन्तन द्वारा ब्रह्मानन्द रस का पान करें । व्यर्थ के शास्त्र चिन्तन व तर्क से हमारा क्या प्रयोजन ? अतः दुःख के कारण और मोह रूप अनात्म चिन्तन को छोड़कर आनन्द स्वरूप आत्मा का चिन्तन करो जो साक्षात् मुक्ति का कारण है ।

यह स्वयं प्रकाश सब का साक्षी निरन्तर विज्ञानमय कोश में स्थित समस्त अनित्य पदार्थों से पृथक् परमात्मा को ही अपना लक्ष्य बनावें । इसी का निरन्तर मन ही मन देह के नाम, जाति के निश्चय की तरह अखण्ड वृत्ति से सोऽहम् (आत्म भाव) का चिन्तन करें । अनन्य प्रतीतियों से रहित अखण्ड वृत्ति से इस एक ही का चिन्तन करते हुए जिज्ञासु इसी ब्रह्म सत्ता को अपना स्वरूप जाने । इस प्रकार परमात्मा में ही आत्मभाव,

सोऽहम् भाव को दृढ़ करता हुआ और देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं बूढ़ा हूँ, बैं वलवान हूँ, मैं कमजोर हूँ - इस प्रकार की अनात्म बुद्धि का त्याग करे । मल-मूत्र, रज-वीर्य, कफ-थूक, हाड़, केश, रक्त आदि वस्तुओं से गठित इस विकारी, विनाशी शरीर से अहंकार एवं ममता रहित हो जावें ।

यह विकल्प संसार चित्त से उत्पन्न होता है । सुषुप्ति में चित्त के लीन होने पर समस्त दृश्य प्रपंच का नाम-निशान भी नहीं रहता । यह विकल्प चित्त मूलक है । सुषुप्ति में चित्त लीन हो जाने पर किसी नाम-रूप दृश्य जगत् की प्रतीति नहीं होती है । इसलिए हे वत्स ! इस चित्त को जाग्रत अवस्था में ही प्रत्यक् चैतन्य-स्वरूप आत्मा में स्थिर करो ।

नित्य बोध स्वरूप केवलानन्द रूप, उपमा रहित, कालातीत, नित्यमुक्त, निश्चेष्ट, आकाश के समान निःसीम, कला रहित, निर्विकल्प पूर्ण ब्रह्म का विद्वान् समाधि अवस्था में अपने अन्तःकरण में साक्षात् मैं रूप में अनुभव करते हैं ।

कारण-कार्य रहित, मानवी भावना से अतीत, समस्त उपमा रहित, प्रमाणों की पहुँच से परे, वेद वाक्यों से सिद्ध, नित्य, अस्मत् (मैं) रूप से स्थित पूर्ण ब्रह्म का विद्वान् विचार काल में अपने अन्तःकरण में अनुभव करते हैं ।

अजर, अमर, आभास शून्य वस्तु स्वरूप, निश्चल जल राशि के समान नाम, रूप से रहित, गुणों के विकारों से शून्य, नित्य शान्त स्वरूप और अद्वितीय पूर्ण ब्रह्म का विद्वान् समाधि अवस्था में हृदय में साक्षात् अनुभव करते हैं; अर्थात् जैसे अज्ञान काल में यह नाना भेद रूप दृश्य प्रपंच प्रतीत होता है और जैसा शास्त्रों में इसे **'ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्'** वाला वर्णन किया जाता है, वैसा तत्त्वज्ञान होने के उपरान्त नहीं पाया जाता

। जिस प्रकार आँख खुलजाने पर स्वप्न जगत् और सूर्य प्रभा के उपरान्त तारे आकाश में प्रतीत नहीं होते हैं, उसी प्रकार इस संसार वृक्ष को जैसा कहा है वैसा वहाँ विचार काल (समाधि) में नहीं पाया जाता है । संसार चिन्तन को त्यागकर केवल परमात्मा का ही सोऽहम् भावना द्वारा निरन्तर श्रद्धा, भक्ति पूर्वक चिन्तन करना ही वेद के तात्पर्य को जानना है । अपने स्वरूप में चित्त को स्थिर करके अखण्ड आत्मा का साक्षात्कार करो । संसार-गन्ध से युक्त बन्धन को काट डालो और यत्न पूर्वक अपने मनुष्य जन्म को सफल करो । समस्त उपाधियों से रहित बुद्धि के साक्षी सत्ता का : **सोऽहम्, वही मैं हूँ** इस प्रकार चिन्तन करते रहो, इससे तुम फिर संसार चक्र में नहीं पड़ोगे ।

◆◆◆

ब्रह्म भावना

देह प्राण, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि आदि अनात्म देह संघात् से आत्म बुद्धि छोड़कर **मैं ब्रह्म हूँ** इस शुद्ध बुद्धि से अखण्ड बोध स्वरूप अपने को साक्षी आत्मा जाने, अर्थात् वह मैं स्वयं हूँ - ऐसा अपने को पहचाने ।

जिस प्रकार मिट्टी के कार्य घट, सुराई, दीप, ईंट, खपरा, दुर्गा, गणेश आदि भीतर-बाहर भेद रहित एक मिट्टी ही है, उसी प्रकार सत् से उत्पन्न हुआ यह सत्स्वरूप सम्पूर्ण जगत् सन्मात्र ही है । क्योंकि सत् से परे और कुछ भी नहीं है तथा वही सत्य स्वयं आत्मा ही है । इसलिए जो शान्त, निर्मल और अद्वय परब्रह्म है वह तुम्हीं हो- ऐसा निश्चय से भावना करो ।

जिस प्रकार स्वप्न में निद्रा दोष से कल्पित देश, काल, विषय

और ज्ञाता आदि सभी मिथ्या होते हैं, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी यह जगत् अपने अज्ञान का कार्य होने के कारण मिथ्या ही है । इस प्रकार यह शरीर, प्राण, अहंकारादि सभी असत्य है । अतः तुम वही परब्रह्म हो जो शान्त, निर्मल, अद्वितीय है ।

जो जाति, नीति, कुल, गोत्र से परे है; नाम, रूप, गुण और दोष से रहित है तथा देश, काल और वस्तु से भी पृथक् है - वही ब्रह्म तुम हो - ऐसी भावना अपने अन्तःकरण में दृढ़ता से करो ।

जो प्रकृति से परे और वाणी के द्वारा कहा नहीं जा सकता, केवल निर्मल ज्ञान चक्षु द्वारा **सोऽहम्** रूप से अनुभव किया जा सकता है तथा शुद्ध चिद्घन अनादि अनन्त वस्तु है, तुम वही ब्रह्म हो - ऐसी अपने बुद्धि में देह के नाम, जाति, की तरह दृढ़ निष्ठा करो ।

क्षुधा-पिपासा, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु यह छः उर्मियों से रहित योगी जन जिसका अपने हृदय में ध्यान करते हैं, जो इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता तथा बुद्धि से भी सोचा नहीं जा सकता, वही महान् ऐश्वर्यशाली ब्रह्म तुम हो - ऐसी चित्त मे भावना करो ।

जो भ्रान्ति से कल्पित इस जगत् रूप कला का आधार है, जो स्वयं अपने ही आश्रय स्थित है, जो सत्-असत् दोनों से भिन्न है, जो निराकार निरवयव ब्रह्म है, वही तुम हो - ऐसी अपने मन में भावना करो ।

जो जन्म, वृद्धि (बढ़ना), परिणति (बदलना), अपक्षय, व्याधि और नाश - शरीर के इन छहों विकारों से रहित और अजन्मा अविनाशी है तथा विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का आधार है, वह ब्रह्म ही तुम हो, ऐसी मन मे भावना करो ।

जो भेद रहित और परिणाम रहित निश्चल, अखण्ड, वह ब्रह्म ही तुम हो - ऐसा मन में विचारो । जो एक होकर भी अनेकों का कारण तथा

अन्य कारणों के निषेध का कारण है, किन्तु जो स्वयं कार्य-कारण से रहित है, वह ब्रह्म ही तुम हो - ऐसा निश्चय करो ।

जो निर्विकल्प महान और अविनाशी है, क्षर शरीर और अक्षर जीव से भिन्न है तथा नित्य, अव्यय, आनन्द स्वरूप और निष्कलंक है, वह ब्रह्म ही तुम हो - ऐसी हृदय में भावना करो ।

जो सर्वदा सत् और स्वर्ण के समान स्वयं निर्विकार है तथापि भ्रम वश नाना नाम, रूप, गुण और विकारों के रूप में भासता है, वह ब्रह्म ही तुम हो - ऐसा अपने चित्त में चिन्तन करो ।

जो सब से ऊपर है, जिससे कोई ऊपर नहीं है, जो स्वयं प्रकाश सब का अधिष्ठान सबका अन्तरात्मा है तथा सच्चिदानन्द स्वरूप अनन्त और अव्यय है, वह ब्रह्म ही तुम हो-ऐसी अपने अन्तःकरण में दृढ़ भावना करो ।

सेना के बीच रहने वाले राजा के समान भूतों के संघात रूप शरीर के मध्य स्थित इस स्वयं प्रकाश स्वरूप विशुद्ध तत्त्व को जान कर सदा तन्मय भाव से स्व-स्वरूप में स्थित रहते हुए सम्पूर्ण दृश्य वर्ग को अपने आत्म स्वरूप में उसी प्रकार लीन करो जैसे साक्षी में समस्त स्वप्न संसार जाग्रत अवस्था में आने पर लीन हो जाता है ।

जो इस सत्-असत् से विलक्षण तत्त्व परब्रह्म के साथ सोऽहम् भाव रूप होकर रहता है; हे वत्स ! उसका फिर शरीर रूपी कन्दरा में प्रवेश नहीं होता अर्थात् फिर वह जन्म-मरण बन्धन में कभी नहीं फंसता ।

बोधोपलब्धि

श्रुति-प्रमाण युक्त गुरु के वचन और अपनी युक्तियों द्वारा परमात्म तत्त्व को जानकर चित्त और इन्द्रियों के शान्त हो जाने पर कोई तत्त्वज्ञान प्राप्त ज्ञानी परमानन्दमयी स्थिति से उठकर कहने लगा - ओह ! ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान होने पर मेरी बुद्धि तो नाम-रूप की सत्यता से एकदम् शून्य-सी हो गई । संसारी विषयों में जो मेरी आसक्ति थी वह अब सब दूर हो गई । अब मुझे यहाँ न कुछ दिखायी पड़ता है न अन्य रूप से सुनाई पड़ता है और न कुछ जानता ही हूँ । मैं तो अपने नित्यानन्द स्वरूप आत्मा में स्थित होकर अपने को देहादि संघात् से पूर्ण रूपेण पृथक् ही देखता हूँ । जो संसार अज्ञान काल में दिखाई पड़ता था अब आत्मज्ञान होने पर वह कहाँ लीन हो गया ? अब वह कहीं दिखाई नहीं देता है । उसे कौन ले गया ? वह कहाँ चलागया ? जिनके कृपा कटाक्ष से मैंने क्षणभर में अक्षय पद, आत्म पद को प्राप्त किया है उन असंग संत शिरोमणी श्रीगुरुदेव को बारम्बार नमस्कार है । श्री गुरुदेव की कृपा से आज में धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ, असंग नित्यानन्द स्वरूप और सर्वत्र परिपूर्ण हूँ ।

मैं असंग हूँ, अशरीरी हूँ, अलिंग हूँ, अक्षय हूँ, अनन्त हूँ, शान्त हूँ और पुरातन हूँ । मैं अकर्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, अविकारी हूँ, अक्रिय हूँ, शुद्ध बोध स्वरूप हूँ, एक हूँ और नित्य कल्याण स्वरूप हूँ ।

द्रष्टा, श्रोता, वक्ता, कर्ता, भोक्ता, मैं इन सभी से भिन्न तथा मैं तो नित्य, निरन्तर, निष्क्रिय, निःसीम, असंग और बोध स्वरूप हूँ । मैं न यह हूँ न वह हूँ; बल्कि यह स्थूल, सूक्ष्म जगत् का प्रकाशक बाह्याभ्यान्तर शून्य, पूर्ण, अद्वितीय और शुद्ध परब्रह्म ही हूँ । जो उपमा रहित अनादि तत्त्व तू-मैं-यह-वह आदि कल्पना से अत्यन्त दूर है, वह नित्यानन्द एक रस स्वरूप, सत्य और अद्वितीय ब्रह्म मैं ही हूँ ।

मैं नारायण हूँ, मैं नरकासुर का अन्त करने वाला हूँ, त्रिपुर दैत्य

का नाश करने वाला हूँ, परम पुरुष और ईश्वर हूँ । मैं अखण्ड बोध स्वरूप हूँ, सब का साक्षी हूँ, स्वतन्त्र हूँ तथा अहँता और ममता से रहित ज्ञान स्वरूप से सब का आश्रय होकर समस्त प्राणियों के भीतर और बाहर में ही स्थित हूँ तथा पहले जो पदार्थ इदम् वृत्ति द्वारा भिन्न-भिन्न देखे गये थे, वह भोक्ता और भोग्य सब कुछ स्वयं मैं ही हूँ । मुझ अखण्ड आनन्द समुद्र में जीव रूपी नाना तरंगें माया रूपी पवन के वेग से उठती है और लीन हो जाती है । जैसे निष्फल (हानि-लाभ शून्य) और निर्विकल्प काल में स्वरूप से कोई कल्प, वर्ष, अयन (दक्षिणायन-उत्तरायण) और ऋतु आदि का विभाग नहीं है , उसी प्रकार लोगों ने भ्रमवश केवल स्फुरण मात्र से ही आरोपित करके मुझ में स्थूल-सूक्ष्म आदि भावों की कल्पना करली है । जैसे मृग तृष्णा के महान् जल प्रवाह अपने आश्रय बालूकण या ऊसर भूमि खण्ड को किंचित् भी गीला नहीं कर सकता, वैसे ही बुद्धि दोष से दूषित अज्ञानियों द्वारा आरेपित की हुई वस्तु अपने आधार (आश्रय) को विकारी नहीं कर पाती है ।

मैं आकाश के समान निर्लेप, सूर्य के समान सर्व प्रकाशक स्वयं प्रकाश पर्वत के समान नित्य निश्चल हूँ, और समुद्र के समान अपार हूँ । जैसे आकाश का मेघों से कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही मुझ चिदाकाश का शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मनादि से कोई सम्बन्ध नहीं । तो फिर इस बुद्धि के धर्म, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति आदि मुझ में कैसे हो सकता है ?

जीव की देह उपाधि ही प्रारब्ध वश इधर-उधर जाती है तथा वही कर्मों को करती है और फल भोगती है तथा मृत्योपरान्त वही एक देह को त्याग दूसरे देह में प्रवेश कर जाती है । मैं तो आकाश के समान नित्य निश्चल भाव से रहता हूँ । मुझ सदा एकरस निरवयव की न किसी विषय में प्रवृत्ति है और न किसी विषय से निवृत्ति होती है । भला, जो निरन्तर एक रूप घनीभूत और आकाश के समान पूर्ण है वह किस प्रकार चेष्टा कर

सकता है ? इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त आदि विकार और निराकार, निरवयव, अखण्ड, एकरस, असंग मुझ निष्क्रिय आत्मा को पुण्य-पाप कैसे हो सकता है ?

जैसे अच्छी-बुरी कैसी भी वस्तु की छाया छू जाने पर भी उससे सर्वथा पृथक् पुरुष का तनिक भी स्पर्श नहीं कर सकती तथा घर को प्रकाशित करने वाला दीपक पर जैसे घर के सुन्दरता-मलिनता, धार्मिक-अधार्मिक आदि किसी धर्म का प्रभाव नहीं होता है, वैसे ही शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के धर्म उनसे विलक्षण उनके साक्षी मुझ असंग आत्मा को कोई भी विकार तनिक भी छू नहीं सकते ।

मनुष्य के सभी प्रकार के कर्मों में सूर्य का जैसे साक्षी भाव है, लोहे के जलाने में जैसे अग्नि की दाहकता है और आरोपित सर्पादि से जैसे रज्जु का संग है, वैसे ही मुझ कूटस्थ चेतन आत्मा का विषयों में साक्षी भाव है । जैसे सूर्य का प्रकाश धर्म, अग्नि का दाहकता धर्म अथवा रस्सी की टेड़ी आकृति में सर्प भ्रान्ति सहज होती है, वैसे ही आत्मा का साक्षी भाव भी विषयों की अपेक्षा से स्वभाविक् है - वह उसकी क्रिया नहीं है । जैसे चुम्बक् पत्थर द्वारा लोहा का आकर्षण स्वभाविक् है - वह चुम्बक् की क्रिया नहीं है, इसी प्रकार इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राणादि मेरी उपस्थिति मात्र से क्रियान्वित होते हैं ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणी सर्वशः ।
अहंङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। - गीता : ३/२७

वास्तव में सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं तो भी जिसका अन्तःकरण अहङ्कारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' एसा मानता है । अज्ञानी पुरुष ही इन प्रकृति के कार्य देह

संघात् में कर्तृत्वाभिमान करके *मैं कर्ता हूँ* - ऐसा मिथ्या अभिमान करता है और इसलिए वह कर्म फलों का भोक्ता हो ससांर चक्र में भटकता दुःख पाता रहता है ।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ - गीता : ३/१८

हे महाबाहो ! गुण विभाग और कर्म विभाग के तत्त्व को जानने वाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणमें बतर रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता ।

मैं न करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ, न भोगने वाला हूँ न भुगतवाने वाला हूँ और न देखने वाला हूँ न दिखने वाला हूँ । मैं तो सब से विलक्षण, निष्क्रिय, स्वयं प्रकाश आत्मा हूँ । मूढ़ जिस प्रकार जल रूप उपाधि के चंचल होने पर औपाधिक प्रतिविम्ब की चंचलता का विम्बिभूत सूर्य में आरोप करते हैं, उसी प्रकार वे सूर्य के समान निष्क्रिय एवं स्वयं आत्मा में चित्त की चंचलता का आरोप कर - मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं पापी हूँ, मैं नीच हूँ, मैं दानी हूँ, मैं कृपण हूँ - ऐसा आरोप करते हैं ।

घड़े के धर्म से जैसे छोटा, बड़ा, गोल, लम्बा, लाना, ले जाना आदि धर्मों का असंग आकाश से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही इस जड़ देह के किसी भी प्रकार की अवस्थाओं से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहता । कर्तापन, भोक्तापन, दुष्टता, उन्मत्तता, जड़ता, बन्धन और मोक्ष - ये सब बुद्धि की कल्पनाएँ हैं, यह सब द्वन्द्व प्रकृति आदि से अतीत मुझ अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप स्व-आत्मा में नहीं है । मेघ के आवागमन, उत्पन्न, नष्ट होने और वर्षा करने से असंग आकाश को उसका कोई धर्म स्पर्श नहीं करता । प्रकृति में अनेकों विकार क्यों न हो उनसे मुझ असंग, साक्षी, निर्विकार, निरवयव, अखण्ड, आनन्द स्वरूप, एकरस आत्मा का क्या सम्बन्ध ?

जैसे मेघ कभी भी आकाश को छू नहीं सकता । इसी तरह प्रकृति देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकारादि के धर्म मुझ असंग आत्मा को छू नहीं सकते ।

अव्यक्त (माया) से लेकर स्थूल पंच भूत एवं उसके कार्य तीन शरीर, पंचकोश, तीनों अवस्था - यह सब विश्व जिसमें आभास मात्र प्रतीत होता है तथा जो आकाश के समान सूक्ष्म और आदि अन्त से रहित अद्वैत ब्रह्म है वही मैं हूँ । जो सब का आधार, सब वस्तुओं का प्रकाशक, सर्वरूप, सर्व व्यापि, सब से रहित, नित्य, शुद्ध और विकल्प रहित अद्वैत ब्रह्म है, वही मैं हूँ । जो समस्त मायिक भेदों से रहित अन्तरात्मा रूप और साक्षात् प्रतीति का अविषय तथा अनन्त सच्चिदानन्द स्वरूप अद्वैत ब्रह्म है वही मैं हूँ । क्रिया रहित, विकार रहित, कला रहित और निराकार, निर्विकल्प, निरालम्ब, नित्य और अद्वितीय ब्रह्म मैं ही हूँ । मैं कैवल अखण्ड ज्ञान स्वरूप और निरन्तर आनन्द रूप ब्रह्म ही हूँ ।

हे गुरुदेव ! आप की कृपा और महिमा के प्रसाद से मुझे यह स्वराज्य साम्राज्य की विभुति प्राप्त हुई है । मैं माया से प्रतीत होने वाले जन्म, जरा और मृत्यु के कारण अत्यन्त भयानक महास्वप्न में भटकता हुआ दिन-रात नाना प्रकार के तापों से सन्तप्त हो रहा था । हे गुरु ! अहंकार रूपी व्याघ्र से अत्यन्त व्यथित मुझ दीन को निद्रा से जगाकर आपने मेरी बहुत बड़ी रक्षा की है । आप महात्मा को मेरा बारम्बार नमस्कार हो ।

◆◆◆

उपदेश का उपसंहार

इस प्रकार आत्मानन्द और तत्त्वबोध को प्राप्त हुए उस उत्तम शिष्य ने अपने श्री गुरुदेव को प्रणाम किया । तब उसे देख महात्मा अति

प्रसन्न चित्त से फिर इस प्रकार श्रेष्ठ वचन कहने लगे :-

हे वत्स ! अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से शान्त चित्त हो कर सब अवस्थाओं में ऐसा ही देख की यह अध्यस्त संसार ब्रह्म-प्रतीति का ही प्रवाह है । इसलिये यह सर्वथा अधिष्ठान सत्य स्वरूप ब्रह्म ही है । केवल नेत्र युक्त व्यक्ति को चारों ओर देखने के लिये रूप के अतिरिक्त और क्या वस्तु है ? उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी की बुद्धि का विषय सत्य स्वरूप ब्रह्म से अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

उस परमानन्द रस के अनुभव को छोड़कर अन्य थोथे विषयों में कौन बुद्धिमान रमण करेगा ? अति आनन्द दायक पूर्ण चन्द्र के प्रकाशित रहते हुए चित्रलिखित चन्द्रमा को देखने की इच्छा कौन करेगा ? असत् पदार्थों के अनुभव से न तो कुछ तृप्ति ही है और न दुःख का नाश ही होता है । अतः इस अद्वयानन्द रस के अनुभव से तृप्त होकर सत्य आत्मनिष्ठ भाव से सुख पूर्वक स्थित हो ।

हे महाभाग ! सब ओर केवल अपने को ही देखता हुआ, अपने को अद्वितीय मानता हुआ और आत्मानन्द का अनुभव करता हुआ प्रारब्ध समाप्ति तक कालक्षेप कर । अखण्ड बोध स्वरूप निर्विकल्प आत्मा में किसी विकल्प का होना आकाश में नगर की कल्पना के समान है । इसलिये अद्वितीय आनन्दमय आत्म स्वरूप से स्थित होकर मौन धारण करो एवं परम शान्ति लाभ करो ।

महात्मा ब्रह्मवेत्ता के मिथ्या विकल्पों की हेतुभूता बुद्धि की जो ब्रह्म भाव से मौन अवस्था है वही परम उपशम है, जिसमें की निरन्तर अद्वयानन्द रस का अनुभव होता है । जिसने आत्म स्वरूप जान लिया है उस स्व-आनन्द रस का पान करने वाला पुरुष के लिये वासना रहित मौन से बढ़कर उत्तम सुखदायक और कुछ भी नहीं है । विद्वान् मुनि को उचित है

कि चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते अथवा किसी और अवस्था में रहते निरन्तर आत्मा में रमण करता हुआ इच्छानुकूल रहते हुए ब्रह्मानन्द में मस्त रहे ।

जिसकी चित्तवृत्ति निरन्तर आत्म स्वरूप मे लगी रहती है तथा जिसे आत्म तत्त्व की सिद्धि हो गई है, उस महापुरुष को ध्यान समाधि की क्या आवश्यकता ? अब उस आत्मनिष्ठ ज्ञानी के लिये किसी देश, काल, आसन, मुद्रा, यम, नियम, तथा ध्यान आदि साधनों की आवश्यकता नहीं है । अपने आप को जानने के लिये भला नियम आदि की अपेक्षा ही क्या ? जैसे यह घड़ा है, ऐसा सम्यक् प्रकार से जान लेने पर फिर उस ज्ञान में भ्रान्ति नहीं होती । घड़ा जानने के लिये नेत्र प्रमाण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण की जरूरत नहीं है ।

आत्मा नित्य शुद्ध है, बुद्धि की शुद्धि होते ही वह स्वयं भासने लगता है । अपने आप को जानने के लिये देश, काल अथवा शुद्धि किसी की अपेक्षा नहीं रखता । जिस प्रकार **मैं निरंजन हूँ -** इस ज्ञान में किसी नियम की अपेक्षा नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता को मैं ब्रह्म हूँ - यह ज्ञान स्वतः ही होता है । सूर्य से जैसे जगत् प्रकाशित होता है, वैसे ही जिस के प्रकाश से समस्त असत् और तुच्छ अनात्म पदार्थ भासते हैं, उसको भासित करने वाला और कौन हो सकता है ? वेद, शास्त्र, पुराण और समस्त भूत मात्र जिससे अर्थवान् हो रहे हैं, उस सर्व साक्षी परमात्मा को और कौन प्रकाशित कर सकेगा ? यह सर्व साक्षी आत्मा स्वयं प्रकाश, अनन्त शक्ति, अप्रमेय और सर्वानुभव स्वरूप है । इसको जो ''**मैं ब्रह्म हूँ**''- इस प्रकार जान लेने पर ब्रह्मवेत्ता महात्मा संसार बन्धन से मुक्त होकर धन्य हो जाता है ।

आत्मज्ञानी विषयों के प्राप्त होने पर वह न तो दुःखी होता है,

न आनन्दित होता है, न उनमें आसक्त होता है, और न उससे विरक्त होता है । वह तो निरन्तर आत्मानन्द रस से तृप्त होकर स्वयं अपने आप में क्रीड़ा करता है और आनन्दित होता है । जिस प्रकार खिलोना मिलने पर बालक भूख, प्यास और शारीरिक व्यथा को भूलकर उससे खेलने में लगा रहता है, उसी प्रकार अहंकार और ममता शून्य ज्ञानी अपने में आनन्द पूर्वक रमण करता रहता है ।

ब्रह्मवेत्ता विद्वान् चिन्ता और दीनता रहित होकर भिक्षान्न भोजन तथा नदियों का जल पान करता हुआ सन्तुष्ट रहता है । उनकी स्थिति स्वतन्त्रता पूर्वक और निरंकुश इच्छानुरूप होती है । उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं होता, वे वन अथवा श्मशान में सुख की नींद सोते हैं । धोने-सुखाने आदि की अपेक्षा से रहित लिंगोट (साधारण वस्त्र) ही उनके वस्त्र हैं, पृथ्वी ही बिछौना होता है तथा उनका आना-जाना वेदान्त विथियों में ही हुआ करता है और परब्रह्म में ही उनकी क्रीड़ा होती है ।

वह आत्मनिष्ठ महापुरुष इस शरीर रूप विमान में बैठकर अर्थात् अपने सर्वाभिमान शून्य शरीर का आश्रय लेकर दूसरों के द्वारा उपस्थित किये समस्त विषयों को बालक के समान भोगता है । किन्तु वास्तव में वह प्रकट चिन्ह रहित और बाह्य पदार्थों में आसक्ति रहित होता है ।

चैतन्य रूप वस्त्र से युक्त वह महा भाग्यवान् पुरुष वस्त्रहीन, वस्त्रयुक्त अथवा वल्कल छाल आदि धारण करने वाला होकर उन्मत्त के समान, बालक के समान अथवा पिशाचादि के समान स्वेच्छानुसार अन्न, जल, ग्रहण करता है और मनमाना वेशभूषा धारण कर विचरता है । स्वयं सर्वात्म भाव से स्थित, सदा अपने आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है; वह शिष्य सम्प्रदाय की भीड़ से मुक्त और अकेला ही विचरण करने वाला होता है ।

वह निर्धन होने पर भी सदा सन्तुष्ट, असहाय होने पर भी महा

बलवान, भोजन न करने पर भी नित्य तृप्त और विषम भाव से वर्तता भी समदर्शी होता है । वह महात्मा सब कुछ करता हुआ भी अकर्ता है, नाना प्रकार के फल भोगता हुआ भी अभोक्ता है, शरीर धारी होने पर भी अशरीरी और परिच्छिन्न होने पर भी सर्वव्यापि है । सदा शरीर भाव से रहित होने के कारण इस ब्रह्मवेत्ता के प्रिय अथवा अप्रिय, सुन्दर या असुन्दर, शुभ अथवा अशुभ कभी छू नहीं सकता; क्योंकि वह सदा साक्षी भाव में स्थित रहता है ।

ब्रह्मवेत्ता महापुरुष कहीं मूढ़, कहीं विद्वान् और कहीं राजा महाराजाओं के ठाट-बाट से युक्त दिखाई देता है । वह कहीं भ्रान्त,कहीं शान्त और कहीं अजगर के समान निश्चल भाव से पड़े दिखाई पड़ता है । इस प्रकार निरन्तर परमानन्द में मग्न हुआ विद्वान् कहीं सम्मानित, कहीं अपमानित और कहीं अज्ञात रहकर अलक्षित गति से विचरता है ।

जिस देहाभिमानी का स्थूल-सूक्ष्म आदि देहों से सम्बन्ध होता है उसी का सुख-दुःख, पुण्य-पाप की प्राप्ति होती है । किन्तु जिसका देहादि बन्धन टूट गया है, उस सत्य-स्वरूप ज्ञानी को शुभ अथवा अशुभ फल की प्राप्ति नहीं होती है ।

वास्तविक विज्ञान को न जानने के कारण जैसे अज्ञानी सूर्य को राहु ग्रस्त न होने पर भी राहु ग्रस्त कहते हैं, अथवा सूर्य में अन्धकार न होने पर भी सूर्य पराग्,. सूर्य ग्रहण कहते हैं । वैसे ही देहादि सम्बन्ध से छूटे हुए ब्रह्मवेत्ता का आभास मात्र शरीर देखकर अज्ञानीजन उसे देह युक्तसा मानते हैं । यह मुक्त पुरुष का शरीर तो सांप की काँचुली के समान प्राणवायु द्वारा कुछ इधर-उधर चलायमान होता हुआ पड़ा रहता है । किन्तु उस ज्ञानी में कर्तृत्वाभिमान न होने के कारण वह वास्तव में क्रिया नहीं करता, जैसे जल प्रवाह से लकड़ी ऊँचे-नीचे स्थानों से बहा ली जाती है, उसी प्रकार प्रारब्ध देव के द्वारा ही उस आत्मज्ञानी का शरीर समय अनुकूल भोगों को

प्राप्त हो जाता है ।

मुक्त पुरुष का शरीर प्रारब्ध कर्म से कल्पित वासनाओं द्वारा संसारी पुरुष के समान नाना भोगों को भोगता है । सिद्ध पुरुष तो स्वयं कुलालचक्र के मूल की भाँति संकल्प-विकल्प से रहित होकर साक्षी भाव से मौन होकर रहता है ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।।

- गीता : १४/२२

ब्रह्मवेत्ता पुरुष अत्यन्त सघन आत्मानन्द रस के पान से मतवाला होकर साक्षी भाव में स्थित हुआ इन्द्रियों को न तो विषयों में लगाता है और न उन्हें विषयों से हटाता है । वह उनके कर्म के फल की ओर तो देखता भी नहीं है ।

जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों दृष्टियों को त्यागकर केवल एक आत्म स्वरूप से स्थित रहता हुआ दोनों दृष्टियों का साक्षी रहता है, वह ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ महापुरुष साक्षात् शिव है । अर्थात् अन्य वस्तु के अभाव के जिसका लक्ष्य कोई वस्तु प्राप्त करने के लिये नहीं होता और जड़ पाषाण या सुषुप्त पुरुष की तरह वह व्यवहार ज्ञान शून्य अलक्ष्य (उद्देश्य रहित) भी नहीं होता है ऐसा पुरुष ही श्रेष्ठतम आत्मनिष्ठ है । वह ब्रह्मज्ञानी जीता हुआ भी सदा मुक्त और कृतार्थ ही है । शरीर रूप उपाधि के नष्ट होने पर वह ब्रह्म भाव में स्थित हुआ ही अद्वितीय ब्रह्म में लीन हो जाता है ।

जैसे राजा अपने सिहांसन परल बैठ मुकुट, तलवार, ढाल धारण कर राजमहल में रहने पर अथवा उस राज वैभव के बिना भी पुरुष ही है, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता उपाधियुक्त हो अथवा उपाधिमुक्त - सदा

ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं । जहाँ-तहाँ गिरे हुए वृक्ष के सूखे पत्तों के समान ब्राह्मीभूत यति का शरीर कहीं भी गिरे, वह तो पहले ही चैतन्य ज्ञानाग्नि में दग्ध हुआ रहता है ।

सत्य स्वरूप आत्मा में स्थित रहने वाले, अद्वितीय आनन्द स्वरूप में स्थित रहने वाले मुनि को इस त्वचा, मांस और मल-मूत्र के पिण्ड को त्यागने के लिये किसी आसन, मुद्रा, ध्यान, मन्त्र, कालादि की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि मोक्ष हृदय की अविद्या रूप ग्रन्थि के नाश को ही कहते हैं । देह अथवा दण्ड कमण्डलुके त्याग करने का नाम मोक्ष नहीं है । वृक्ष का सूखा पत्ता वृक्ष से गिर कर नाली में, नदी में, शिवालय पर अथवा किसी अपवित्र स्थान पर गिर पड़े तो उसे धारण करने वाले वृक्ष की कोई लाभ अथवा हानि नहीं । वृक्ष के पत्ते, पुष्प और फल के समान जीव के शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण का नाश होता है । सदानन्द स्वरूप स्वयं आत्मा का नाश कभी नहीं होता; वह तो वृक्ष के समान नित्य अचल है ।

प्रज्ञान घन - यह आत्मा का लक्षण उसकी सत्यता का सूचक है । विज्ञानी ऐसा अनुवाद (वर्णन) करके उपाधि कल्पित वस्तु का ही नाश बतलाते हैं । अरे ! यह आत्मा अविनाशी है -

अविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा

यह श्रुति बृह. ४/५/२४ भी विकारी देह आदि का नाश होने पर आत्मा के अविनाशीत्व का ही प्रतिपादन करती है ।

जिस प्रकार पत्थर, वृक्ष, तृण, घास, भूसा और वस्त्र आदि जलने पर मिट्टी ही हो जाते हैं, उसी प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण और मन आदि संपूर्ण दृश्य पदार्थ ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाने पर परमात्मा स्वरूप ही हो जाते हैं; क्योंकि यह परमात्मा ही सबका आदि मध्य और अन्त है । नाम-

रूप तो वाचारम्भण मात्र है । जैसा सूर्य का प्रकाश होने पर उससे विपरीत स्वभाव वाला अन्धकार उसी में लीन हो जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच ज्ञानोदय होने पर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं ।

घड़े के नष्ट हो जाने पर जैसे घट स्थित आकाश महाकाश ही दिखाई पड़ता है, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता के नाम, रूप शरीर का नाश होते ही उस उपाधि में स्थित चैतन्य आत्मा ब्रह्म स्वरूप ही रह जाता है । जैसे दुग्ध में मिलकर दुग्ध, जल में मिलकर जल, तैल में मिलकर तैल एक ही हो जाते हैं, वैसे ही आत्मज्ञानी मुनि आत्मा में लीन होने पर आत्म स्वरूप ही रह जाता है ।

अखण्ड सत्ता मात्र से स्थित होना ही विदेह, कैवल्य है । इस प्रकार ब्रह्मभाव को प्राप्त होकर यह यति फिर संसार चक्र में नहीं पड़ता । ब्रह्म और आत्मा के एकत्व, ज्ञान रूप अग्नि से अविद्याजन्य शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अहंकारादि उपाधि के दग्ध हो जाने पर तो यह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म रूप ही हो जाता है और फिर निरुपाधिक ब्रह्म का जन्म कैसा ?

बन्ध और मोक्ष अज्ञान से ही कल्पित हुए हैं; वस्तुतः वे आत्मा में नहीं है । जैसे क्रिया हीन रस्सी में सर्प-प्रतीति का होना न होना भ्रम मात्र है, वास्तव में नहीं । अज्ञान की आवरण शक्ति के रहने से बन्ध और न रहने से मोक्ष कहते हैं । ब्रह्म को कोई आवरण करने वाला हो ही नहीं सकता; क्योंकि उससे अतिरिक्त और कोई वस्तु है नहीं । अतः वह अनावृत है । यदि ब्रह्म का भी आवरण माना जाये तो अद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता और द्वैत श्रुति का मान्य नहीं है ।

सदा में समत्वं न मुक्तिः न बन्धः
चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहं ॥

बन्ध और मोक्ष दोनों बुद्धि के गुण है । जैसे मेघ के द्वारा दृष्टि के

ढक जाने पर सूर्य को ढँका हुआ कहा जाता है, उसी प्रकार मूढ़ पुरुष उनकी कल्पना आत्मतत्त्व में व्यर्थ ही करते हैं; क्योंकि ब्रह्म तो सदैव अद्वितीय, असंग, चैतन्य स्वरूप, एक और अविनाशी है ।

पदार्थ का होना न होना- ऐसे जो ज्ञान है वह बुद्धि का ही गुण है, नित्य वस्तु आत्मा का नहीं । इसलिए आत्मा में ये बन्ध और मोक्ष दोनों माया कल्पित है, वस्तुतः नहीं है; क्योंकि आकाश के समान निरवयव, निष्क्रिय, शान्त, निर्मल, निरंजन और अद्वितीय परमतत्त्व में बन्ध-मोक्ष की कल्पना कैसे हो सकती है ?

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धोन च साधक ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।

- वि.चू. ५७५

वास्तव में सत्य तो यही है कि न किसी का नाश है और न किसी की उत्पत्ति है, न बन्धन है और न कोई साधक है, न मुमुक्षु है, न मुक्त है । एक अद्वय ब्रह्म ही नित्यानन्द, अखण्ड, एकरस ज्यों का त्यों विद्यमान है ।

हे वत्स ! कलि के दोषों से रहित, कामना शून्य तुझ मुमुक्षु को अपने पुत्र के समान समझकर मैंने बारम्बार सकल शास्त्रों का सार-शिरोमणी यह अति गुह्य परम सिद्धान्त तेरे सामने प्रकट किया है । इसमें श्रद्धा विश्वास करने वाला मुमुक्षु अवश्य कैवल्य मुक्ति को प्राप्त करेगा ।

गुरुदेव के ऐसे वचन सुन शिष्य ने अति नम्रता से उन्हें प्रणाम किया और संसार बन्धन से मुक्त हो उनकी आज्ञा पाकर चलागया और श्री सद्गुरु सच्चिदानन्द स्वरूप सागर में मग्न हुए सम्पूर्ण पृथ्वी को पवित्र करते हुए निरन्तर सर्वत्र विचरने लगे

◆◆◆

साम्भवी ध्यान मुद्रा

पद्मासन में बैठ जाए । आँख आधी खुली हो अथवा सरलता से बंद रखें । दृष्टि बाहर की ओर हो । किन्तु लक्ष्य भ्रूमध्य में भीतर की तरफ रहे, जिह्वा ऊपर तालु में चिपकी रहे - यह है साम्भवी मुद्रा जो भगवान शंकर के ध्यानावस्था की है । किन्तु किसी प्रकार विचार, रूप ध्यान या निद्रा में न खो जावे ।

इस मुद्रा में जितनी देर बैठ सको नियमित बैठो । दैनिक साधना के रूप में जीवन पर्यन्त इसे करते रहो । यह गुरु प्रसाद है । इसे एक बार अपना लो । इस को महत्व दो । परम सुखी हो जाओगे । जिस परमानन्द की तुम्हें चाह है, उससे तुम्हारा मन परम तृप्त हो जावेगा । ''मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ'' फिर यह वेदान्त ज्ञान केवल शुष्क वाचिक ज्ञान ही नहीं रहेगा । इसे कुछ समय प्रतिदिन नियमित बैठकर करो । दवा नियमित खाने के कुछ काल बाद ही औषध का प्रभाव मालूम पड़ता है, तत्काल नहीं । किन्तु इस साम्भवी मुद्रा का लाभ प्रत्यक्ष तत्काल ही मिलता है । इस में किसी प्रकार का आधार नहीं - यह निरालम्ब स्थिति है । यह अमूल्य निधि है । इसको सम्मान देना । इसको ही अनभ्यास का अभ्यास अर्थात् सहज ध्यान, सहजानन्द एवं सहज समाधि अवस्था कहते हैं । यह गुप्त साधना है । इसमें कभी प्रमाद मत करना ।

जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ ।
जो बोरा डूबन डरा, रहा किनारे बैठ ॥

इस स्थिति में बैठते ही तत्काल निर्विकल्पता आ जाती है । इसमें न कोई विकल्प उठता है न कोई संकल्प । मन पूर्ण एकाग्र निश्चल शान्त

हो जाता है । जितना अभ्यास कर सको करो । समय को बढ़ाते चलो । यह वास्तविक ईश्वर कृपा गुरु प्रसाद है । इसे किसी शास्त्र में नहीं खोज सकोगे । आज के गुरु पूर्णिमा पर्व का यह **महा प्रसाद** है ।

मैं ब्रह्म हूँ, मैं साक्षी हूँ, मैं द्रष्टा हूँ आदि विकल्प करने की भी इसमें आवश्यकता नहीं । इस मुद्रा में बैठते ही निर्विकल्पता आ जाती है । इसे बाल, किशोर, युवा, प्रौढ़, वृद्ध, रोगी, स्त्री व पुरुष सभी कर सकते हैं । इस मुद्रा में रात-दिन कभी भी समय मिलते ही बैठ अभ्यास करो । मन की चंचलता की शिकायत ही समाप्त हो जावेगी । जो सुन रहे हो अभी इसे अनसुना कर छोड़ मत देना । उसे कार्यान्वित नहीं करोगे तो बद्ध ज्ञानी रहोगे । मुक्त ज्ञानी नहीं होंगे । यही कल्याणकारी परम पवित्र परम गोपनीय परमसुख रूप गुरु मन्त्र, गुरु प्रसाद जानो । यह निरंजन का सप्रेम निवेदन स्वीकारे ।

◆◆◆

शंकराचार्य कृत भज गोविन्दम से

यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारोरक्तः ।
पश्चाज्जीवति जर्जर देह वार्ता कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥

आत्मन ! जब तक आप में धनार्जन कर परिवार वालों और मित्रों की सेवा करने व उन्हें प्रसन्न करने की क्षमता है तभीतक वे सम्बन्धी, मित्रादि आपसे प्रीति रखते हैं और आपके आगे, पीछे घूमते रहते हैं । जब आपके पास धन कमाकर उन लोगों को खिलाने की क्षमता नहीं रहेगी, तब वे लोग आपसे बात करना भी नहीं चाहेंगे । अतः हे आत्मन् ! अच्छी तरह समझलो कि संसार वाले तुमसे कोई स्नेह नहीं करते हैं । उनका

आपके प्रति स्नेह का अभिनय तो तभी तक चलता रहता है जब तक कि आपके द्वारा उन्हें किसी भी रूप में सहायता मिलती रहती है । यदि आपके पास धन या उच्च पद है तो दूर-दूर के रिश्तेदार आपके निकटतम बनजावेंगे और यदि धन नहीं तो खून (रक्त) के सम्बन्धी भी दूर हो जाते हैं । तब घर में भी आपकी कोई इज्जत नहीं करेंगे ।

का ते कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः ।
कस्य त्वं कः कुत आयातः तत्त्वं चिन्तन तदिह भ्रानः ॥

हे मोहान्ध जीव ! विचारो कि कौन तुम्हारी पत्नी अथवा पति है ? कौन तुम्हारा पुत्र अथवा पिता है ? तुम किसके हो ? और तुम स्वयं कौन हो ? कहाँ से आये हो एवं देह त्याग कर कहाँ जाओगे, वहाँ तुम्हारे साथ क्या-क्या ले जा सकोगे ? यह संसार अति विचित्र, तेज तलवार की धार की तरह तीक्ष्ण है । अतः सद्गुरु की शरण ग्रहण कर सत्य तत्त्व को शिघ्रातिशीघ्र जानलो ।

हे आत्मन् ! तुम यह स्थूल शरीर नहीं हो; इसलिये इसकी कोई अवस्था, कोई सम्बन्ध तुम्हारे नहीं है । तुम वेद पिता के कथानुसार ब्रह्मांश जीव हो, अमृत सन्तान हो । इसलिये अजन्मा अविनाशी नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्द आत्म ब्रह्म हो । ऐसा बुद्धि में निश्चय करो । 'नाहं देह', 'न मैं देह', मैं देह नहीं हूँ । और देह भी मेरा नहीं है । मैं केवल इसका साक्षी मात्र हूँ ।

कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः का में जननी को मे तातः ।
इति परिभावय सर्वमसारं विश्वंत्यक्त्वा स्वप्न विचारम् ॥

हे आत्मन् ! यह निरन्तर विचार करो कि तुम कौन हो ? क्या यह माता-पिता के रज-वीर्य से निर्मित शरीर मैं हूँ ? यदि यह मैं अपने को स्वीकार करूँ तो यह शरीर क्षण-क्षण में विकार को प्राप्त होता रहता है ।

एवं अन्तः में प्राण निकल जाने पर यह यहीं पड़ा रह जाता है । परिवार के लोग इसे जला देते हैं । उस समय इसे कोई कष्ट भी नहीं होता और यह न कुछ कह पाता है । यह शरीर असार हो जाता है, चेतना शून्य हो जाता है ।

हे आत्मन् ! बचपन से वर्तमान तक शरीर में कितने परिर्वतन हुए; किन्तु उन समस्त परिवर्तनों का जानने वाले में कभी कोई परिवर्तन नहीं आया । वह सदा ज्यों-का -त्यों बचपन से आजतक एकरस द्रष्टा हुआ देखता रहा, जानता रहा, अनुभव करता रहा । अब विचारो ! वह इस देह में कौन था या कौन है जो देह, प्राण, इन्द्रिय एवं मन, बुद्धि की अवस्थाओं को जान रहा है ? बहुत एकाग्रता से विचार करने पर पता चलेगा की जो समस्त परिवर्तनों का प्रकाशक, ज्ञाता, द्रष्टा साक्षी है, वह तो मैं स्वयं हूँ ।

जन्म-मृत्यु शरीर का है और इसी शरीर के जन्म दाता पिता-माता हैं । मैं ईश्वर अंश होने से मेरा न देह है, न मैं देह हूँ । इसलिये मेरे कोई पिता-माता, पति-पत्नी अदि नहीं है । जब मेरा जन्म ही नहीं हुआ तो मुझे मृत्यु का भय कैसा ?

जाग्रत स्वप्न सुषुप्तिादि प्रपंचयत् प्रकाशते ।
तदब्रह्माऽहमितिज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ।।

- कैवल्योप. १७

हे आत्मन् ! जैसे जाग्रत का समस्त संसार, सम्पत्ति, औषध, भोजन, सहायक सम्बन्धी कोई स्वप्न में काम नहीं आते हैं और इसी प्रकार स्वप्न की कोई भी घटना जाग्रत में उपयोगी व प्रभावशाली नहीं होती है । इस प्रकार जाग्रत संसार स्वप्न में असत् हो जाता है और स्वप्न संसार जाग्रत में असत् हो जाता है । किन्तु इन जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा मूर्च्छा, ध्यान, समाधि आदि मिथ्या प्रपंच का प्रकाशक मैं स्वयं हूँ - ऐसा

निश्चयकर दुःख से मुक्त रहें ।

जटिलो मुण्डी लुञ्छित केशः काषायम्बर बहुकृत वेषः ।
पश्यन्नपि च न पश्यति मूढ़ो ह्युदर निमित्तं बहुकृत वेषः ।।

हे मूढ़ मते ! मुक्ति के द्वार रूप ईश्वर की कृपा से प्राप्त इस देव दूर्लभ योनि को व्यर्थ क्यों नष्ट कर रहे हो ? इस जीवन में तो आत्म ज्ञान को प्राप्तकर संसार के जन्म-मरण दुःखों की निवृत्ति कर लेना ही श्रेयःस्कर है । अन्यथा फिर चौरासी लाख योनियों के दुःखों को भोगना पड़ेगा ।

हीरा देकर कांच को ग्रहण करने जैसा ही मूर्खता का कार्य वे लोग कर रहें हैं जो अपने केवल पेट भरने के लिये एवं लोगों को ठगने के लिये राम नाम की चादर ओढ़े, कपाल पर चन्दन, तिलक, भस्मी लगाये, कपड़े रंगाये, सिर, दाढ़ी मूंछ बढ़ाये या केश लोचन किये सर्दी, गर्मी, वर्षा में खुले आकाश में पड़े रहते हैं । तो कोई पत्ते, फल, दूध खाकर, त्याग का अभिनय कर रहे हैं तो कोई भूमि या जल में छुपकर या डूबकर बैठ केवल पेट भरने, परिवार पालन करने के लिये अमूल्य जीवन को नष्ट कर रहे हैं । हे मूढ़ ! बिना आत्मज्ञान प्राप्त किये कभी तेरा कल्याण नहीं हो सकेगा ।

कुरुते गंगा सागर गमनं व्रत परिपालनमथवा दानम् ।
ज्ञान विहीनः सर्वमतेन मुक्तिं न भजति जन्म शतेन ।।

हे जिज्ञासुजनों ! तुम जो समस्त दुःखों से सम्पूर्ण छुटकारा एवं अखण्डानन्द की प्राप्ति चाहते हो वह तुम्हारे गंगा सागर के स्नान करने नहीं होगा, न अमरनाथ यात्रा करनेसे, न चारों धाम की यात्रा करनेसे, न अन्य त्याग कर अनेको व्रत करनेसे, न योग करनेसे, न आसन प्राणायाम करनेसे, न जप माला करनेसे, न दानादि सत कर्मों से हो सकेगा ।

हे आत्मन् ! मुक्ति की प्राप्ति के लिये समस्त वैदिक शास्त्रों का एक ही निर्णय है कि आत्मज्ञान के बिना कोई भी जीव सौ जन्मों में समस्त दुःखों से छुटकारा एवं अखण्डानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकेगा ।

ज्ञाना देवतु कैवल्यम् । ऋतेः ज्ञानान्न मुक्तिः ॥
नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

कामं क्रोधं लोभ मोहं त्यक्त्वाऽऽत्मानं पश्यति सोऽहम् ।
आत्मज्ञान विहीना मूढः ते पच्यन्ते नरक निगूढ़ाः ॥

हे आत्मन् ! काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दैविक शक्तियों द्वारा जीवन निर्वाह मात्र के लिये उपयोग लेकर इन्हीं दैविक शक्ति द्वारा अपने आत्म कल्याण का साधन, ज्ञान प्राप्त करो ।

अपने देह संघात से 'अंह, मम' मैं-मेरा भाव के अहंकार का त्याग करते हुए अपने को देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि का द्रष्टा साक्षी आत्मा (सोऽहम्) रूप से जाने ।

हे आत्मन् ! आत्मज्ञान से रहित देहाभिमानी नाम, रूप, जाति, आश्रम, सम्बन्ध, परिणाम एवं जन्म-मृत्यु के नरकाग्नि में निरन्तर जलते रहते हैं । जैसे विषधर सर्प की जलन चन्दन वृक्ष पर लिपटने से दूर हो जाती है; इसी प्रकार संसार रूप दावानल में जलने वाले नारकीय जीवों के लिये आत्मज्ञान ही एकमात्र शान्ति प्रदान कर सकता है ।

पुनरपि जनमं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्
।
आत्मज्ञान विहीना मूढाः ते पच्यन्ते नरक निगूढाः ॥

हे आत्मन् ! यह जीव अमृत स्वरूप, अविनाशी होते हुए भी

अपने को मरण धर्मी देह के साथ मैं-बुद्धि एवं देह सम्बन्धियों में मेराभाव करने के कारण इसे कभी तो जमीन से, कभी पसीने से, कभी अण्डे से और कभी गर्भ से उत्पन्न होना पड़ता है । इस प्रकार यह जीवात्मा चौरासी लाख योंनियों में भ्रमण करता हुआ असहनीय दुःखों को भोगता फिरता है ।

आकर चार लक्ष चौरासी, योनि भ्रमत यह जीव अविनाशी

जनमत मरत दुसह दुःख होहिं । कभी यह कुत्ते योनि में तो कभी सूअर, सांप योनि में तो कभी देव-दानव योनि में तो कभी मुर्गी, बकरी, गाय, ऊँट, हाथी, घोड़ा योनि में जाकर मूक अवस्था में सब दुःखों को बाहर तथा भीतर माँ के गर्भ की घोर यन्त्रणा भोगता है । 'मैं द्रष्टा साक्षी आत्मा हूँ'' इस प्रकार के ज्ञान से रहित जीव बारम्बार गर्भ रूपी नरक में डाला जाता है । जब सद्गुरु की कृपा से आत्मज्ञान प्राप्त करता है तभी सुखी होता है ।

नारी स्तन भर नाभी देशं दृष्ट्वा मा गा मोहावेशम् ।
एतन्मांस वसादि विकारं मनसि विचिन्तय वारम्वारम् ।।

हे जिज्ञासु ! यदि तू संसार के दुःखों की निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति चाहता है और इधर सासांरिक अनित्य पदार्थों में सत्य एवं सुख बुद्धि करता रहता है तो यह कैसा हो सकेगा ! आश्चर्य है जीव दुःखों से तो छूटना चाहता है एवं दुःखदायी वस्तुओं व सम्बन्धियों के मोह को छोड़ना नहीं चाहते हैं । आनन्द तो चाहते हैं किन्तु आनन्द प्रदायक सत्संग एवं सद्गुरु चरणों में प्रीति कर आनन्द स्वरूप निजात्मा में मैं-भाव नहीं करना चाहते हैं ।

हे आत्मन् ! यह स्त्री-पुरुषों के शरीर में आकर्षित करने जैसी क्या वस्तु है ? विचार करने से स्त्री के स्तन, गाल या पुरुष की छाती चेहरा एक

हाड़, मांस का पिण्ड अथवा विकार,फोडा, सूजन मात्र है । ऐसा विचार बारम्बार करते रहने से देह के प्रति वैराग्य भाव जाग्रत हो जाता है ।

वयसि गते कः काम विकारः शुष्के नीर कः कासारः ।
क्षीणे वित्ते कः परिवारो ज्ञाते तत्त्वे कः संसार ॥

हे आत्मन् ! जीवन प्रतिक्षण नाश को प्रप्त हो रहा है । जबतक युवा अवस्था है तभीतक काम विकार मानव को सताता है, किन्तु शरीर रोगी हो जाने पर, युवा अवस्था ढल जाने पर काम विकार नहीं रहता । जैसे पानी सुख जाने पर तालाब नाम की शोभायमान स्थली कहाँ है ? अथवा धन नष्ट हो जाने पर कुटुम्बी जन एवं सम्मान कहाँ रहता है ? धन देखकर ही दूर के कुटुम्बी जन समीप हो जाते हैं एवं धन नष्ट होने पर परिवार टूट जाता है । जीवन निर्वाह हेतु परिवार छोड़ धनार्जन के लिये इधर-उधर, देश-विदेश में चले जाते हैं ।

हे आत्मन् ! इसी प्रकार अज्ञान काल में जो संसार सत्य एवं सुख रूप प्रतीत होता था सद्गुरु की कृपा से अब आत्मज्ञान हो जाने पर देह एवं संसार में से सत्य एवं सुख बुद्धि समाप्त हो जाती है ।

सत्स‘त्वे निस्स‘त्वं निस‘त्वे निर्मोहत्वम् ।
निर्मोहत्वे निश्चल तत्त्वं, निश्चल तत्त्वे जीवन्मुक्तिः ॥

हे आत्मन् ! जब विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता - इन चार साधन सम्पन्न होकर कोई जिज्ञासु सद्गुरु की शरण में जाता है तब उनके संग से संसार के भोगों एवं अपने सहित शरीर के सम्बन्धियों के प्रति वैराग्य दृढ़ता को पाप्त हो जाता है । फिर उसके मन में किसी के प्रति मोह नहीं रहता । निर्मोह दशा के प्राप्त हो जाने से उसका चित्त बिना ध्यान के भी स्वतः एकाग्र हो जाता है । तभी वह सोऽहम् निष्ठा से प्रारब्ध पर्यन्त व्यवहार में रहते हुए दिखाई पड़ने पर भी जीवन्मुक्त रहता है । आत्मनिष्ठा,

साक्षी भाव में रहने वाले ज्ञानी पुरुष के मन में देहात्म बुद्धि एवं कर्तृत्व बुद्धि नहीं रहती है ।

मां कुरुः धनजन यौवन गर्वम् हरित निमेषात्कालः सर्वम् ।
माया मयमिदमखिलं बुध्वा ब्रह्मपदं त्वं प्रविश विदित्वा ।।

हे आत्मन् ! यह देह एक पानी के बुलबुले की तरह क्षण भंगुर है । जैसे प्रातः होते ही तारे छिप जाते हैं, इसी तरह प्रारब्ध समाप्त होते ही देह समाप्त हो जाने वाला है । इसलिये मनुष्य को कभी अपने रूप एवं बल का घमण्ड नहीं करना चाहिये । दो दिन तेजी से ज्वर एवं दिन में दस-बीस बार पतले दस्त (Loose motion) हो जावे तो सौन्दर्य एवं बल क्षीण हो जाते हैं । इसी प्रकार धन एवं पद कभी भी तुम्हारा त्यागकर किसी और को गौरवशाली बना सकता है और तुम्हें निर्धन एवं निर्बल बना सकता है । यह माया छलनी छायावत् है । अतः धन, बल एवं पदका गर्व कभी नहीं करना चाहिये ।

अस्तु हे जिज्ञासु जनो ! इस माया को छल रूप जान नश्वर संसार से मोह आसक्ति एवं सुख बुद्धि का त्याग करो । अखण्डानन्द प्रप्त करने के लिये किसी सद्गुरु से आत्मज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मानन्द में स्थित हो जाओ ।

योगरतो वा भोगरतो वा स‘रतो वा स‘ विहीनः ।
यस्य ब्रह्माणि रमते चितं नन्दति नन्दत्येव ।।

हे आत्मन् ! तत्त्वज्ञानी महापुरुष चाहे युद्ध करे, चाहे राज्य करे, चाहे विवाह करे, चाहे भोग करे, चाहे त्याग करे, किन्तु उनका चित्त सदा आत्मनिष्ठा से परिपूर्ण होने से ब्रह्म में रमण करते रहने के कारण वह सदा आनन्दित रहता है । यही सच्चा आनन्द है, यही सच्चा आनन्द है ।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।। - गीता : ३/१८

तत्त्वज्ञानी महापुरुष समस्त क्रियाओं को तीन गुण रूप प्रकृति का किया हुआ ही देखते हैं और अपने को तीनों गुणों से पृथक् द्रष्टा, साक्षी, रूप से देखते रहते हैं ।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। - गीता : १८/१७

जिस ज्ञानी पुरुष के निश्चय में कर्मों के प्रति कर्ता भाव भोगों को भोगने की आसक्ति नहीं होती - ऐसे ज्ञानी से समस्त जगत् का नाश हो जावे तो भी वह कर्म फल को प्राप्त नहीं होता है । यह ज्ञान की महिमा है ।

अगं गलितं पलितं मुण्डं दशन विहीनं जातं तुण्डम् ।
वद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ।।

मनुष्य का शरीर क्षीण हो जाता है, अंग कृश हो जाता है, बाल सफेद हो जाते है, मुंह में दाँत नहीं है, गाल पिचक गये, आँखे भीतर धस गई, स्तन लटक गये, मांस लटक गया - ऐसा वह वृद्ध कमर झुकाकर हाथ में कुबड़ी (छड़ी) पकड़ कर चल रहा है; किन्तु महान आश्चर्य है जीव फिर भी धन, जन, परिवार के प्रति मोह-ममता, आशा-तृष्णा का परित्याग नहीं कर पाता ।

गुरु चरणाम्बुज निर्भर भक्तः संसाराद्चिराद्भव मुक्तः ।
सेन्द्रियमानस् नियमादेवं द्रक्ष्यासि निज हृदयस्थं देवम् ।।

हे आत्मन् ! जीवनमुक्ति पाने के लिये किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के चरण कमलों में तन, मन, धन से सम्पूर्ण समर्पित हो जावें । कुल लज्जा, लोक लज्जा, वेद लज्जा का त्याग कर इन्द्रियों के विषयों से मन को हटा मन के साक्षी आत्म प्रभु के साथ अभिन्नता को स्थापित करें ।

जैसे लहर जल से सदा अभिन्न है; उसी प्रकार यह मन लहर अपने अधिष्ठान आत्मब्रह्म से सर्वदा अभिन्न है ।

हे आत्मन् ! अधिष्ठान रस्सी के अज्ञान काल में जो अध्यस्त सर्प की प्रतीति होती रहती है वह अधिष्ठान रस्सी ही है । इसी प्रकार प्रतीत होने वाला चंचल अध्यस्त मन के अधिष्ठान रूप स्वयं परमात्मा को ही जानोगे ।

◆◆◆

ब्रह्मज्ञानावली

सकृच्छ्रवण मात्रेण ब्रह्मज्ञानं यतो भेवत् ।
ब्रह्मज्ञानावली माला सर्वेषां मोक्ष सिद्धये ॥१॥

इस ब्रह्मज्ञान माला को सद्गुरु के द्वारा एक बार श्रवण कर लेने से ही आत्म बोध जाग्रत हो जाता है । अतः सभी मुमुक्षुओं के लिये यह ब्रह्मज्ञानावली मोक्ष प्राप्ति हेतु अत्यन्त उपयोगी है ।

असंगोऽहम्संगोऽहम् संगोऽहम् पुनः पुन् ।
सच्चिदानन्द रूपोऽहम्मेवाहमव्यय ॥२॥

मैं सजातिय, विजातिय तथा स्वगत भेद रहित असंग हूँ । मैं असंग हूँ, मैं असंग हूँ - बारम्बार ऐसा ही निश्चय करें । मैं सच्चिदानन्द रूप हूँ । मैं ही सनातन अव्यय हूँ ।

नित्य शुद्ध विमुक्तोऽहं निराकारोहमव्ययः ।
भूमानन्द स्वरूपोऽहम्हमेवाहमव्यय ॥३॥

मैं नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हूँ । मैं निराकार नाम, रूप से रहित, सदा एकरस अपरिवर्तनशील और अव्यय आत्मा हूँ । मैं सर्व व्यापक,

अखण्डानन्द स्वरूप हूँ । मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं है ।

नित्योऽहं निरवद्योऽहं निराकारोऽहमच्युतः ।
परमानन्द रूपोऽहम्हमेवाहमव्यय ।।४।।

मैं तीनों कालों का प्रकाशक होने से नित्य हूँ । मायामल से रहित होने से निर्दोष गुणातीत हूँ । मैं निरवयव होने से निराकार हूँ । मै अविनाशी हूँ, मैं अच्युत हूँ । मैं परमानन्द स्वरूप हूँ । मैं ही एक मात्र अव्यय सनातन हूँ । मेरे अलावा किंचित् भी अन्य नहीं है ।

शुद्ध चैतन्य रूपोऽहमात्मारामोहमेव च ।
अखण्डानन्द रूपोऽहम्हमेवाहमव्यय ।।५।।

मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ । मैं ही आत्माराम हूँ । मैं ही एकरस अखण्डानन्द स्वरूप हूँ । मैं ही एक मात्र अव्यय हूँ ।

प्रत्यक्चैतन्य रूपोऽहं शान्तोऽहं प्रकृतेः पर
।
शाश्वतानन्द रूपोऽहमहमेवाहमव्यय ।।६।।

सब प्राणियों के अन्तःकरण में रहने वाला साक्षी शुद्ध चैतन्यात्मा मैं हूँ । तीन गुणवाला प्रकृति के विकारों से रहित शान्त स्वरूप ब्रह्म मैं हूँ । मैं नित्यानन्द स्वरूप हूँ । मैं अव्यय हूँ । मेरे सिवाय और कुछ नहीं है ।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवोब्रह्मैव ना परः ।
अनेन वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदान्त डिण्डिमः ।।

वेदान्त डंके की चोंट की तरह बल पूर्वक समस्त मुमुक्षुओं, भक्तों को कह रहा है कि ब्रह्म ही सत्य है और जीव, जगत्, ईश्वर - यह सब उसी प्रकार मिथ्या प्रतीत होरहे हैं, जैसे जलपर भासने वाली लहर, फेन, बुद्बुदादि । जैसे वहाँ यह सब एक मात्र जल ही है - इसी प्रकार यहाँ एक

मुझ आत्म ब्रह्म के अतिरिक्त न जीव है, न जगत् है, न जगदीश ही है ।

इस प्रकार की सच्ची घोषणा जिस शास्त्र में प्रतिपादित है वही सत्शास्त्र है और इस प्रकार के ज्ञान को जो प्रतिपादन करता है और जिज्ञासुओं को सरल युक्तियों के द्वारा बोध कराता है - उसीको सद्गुरु कहा जा सकेगा ।

अन्तर्ज्योतिर्बहिर्ज्योतिः प्रत्यग्ज्योतिः परात्परः ।
ज्योतिर्ज्योति स्वयं ज्योतिरात्म ज्योतिः शिवोऽस्म्यहम् ॥२१॥

भीतर का प्रकाश मैं हूँ, बाहर का प्रकाशक मैं हूँ और दोनों से परे अन्तःकरण में साक्षी रूप से प्रकाशमान प्रत्यगात्मा भी मैं हूँ । सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत्, अग्नि तथा मन, बुद्धि- इन समस्त जड़ ज्योतियों का प्रकाशक, स्वयं प्रकाश आत्मज्योति भी मैं हूँ । मैं कल्याण स्वरूप आत्मा शिव हूँ ।

मैं समस्त दृश्यों का साक्षी हूँ । मैं कभी उन दृश्यों में फंसता नहीं । मैं निर्लिप्त आत्मा हूँ । मेरा मुझको प्रणाम, मेरा साक्षी मैं ही हूँ । मेरा कोई साक्षी नहीं है । मैं नित्य मुक्त सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा हूँ ।

तत्त्वातीतः परात्माऽहं मध्यातीतः परः शिवः ।
मायातीतः परं ज्योतिरहमेवाहमव्ययः ॥७॥

मैं पंच महाभूतों के कहे जाने वाले सभी तत्त्वों से रहित आत्मा हूँ । उत्पत्ति से पूर्व एवं नाश के बाद जो नहीं रहता है, जो केवल मध्य में ही प्रतीत होता है - इस प्रतीयमान शरीर एवं मन से परे मैं कल्याण स्वरूप आत्मा हूँ । मैं प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव से रहित एक मात्र अव्यय हूँ । मैं माया से रहित स्वयं प्रकाश ज्योति स्वरूप हूँ ।

नाम रूपव्यतीतोऽहं .चिदाकारोऽहमच्युतः ।
सुख स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥८॥

मैं निराकार होने से नाम, रूप से पृथक् हूँ । मैं चैतन्य ज्ञान स्वरूप हूँ । मैं परमानन्द स्वरूप अविनाशी हूँ । मैं ही मैं हूँ । मेरे अलावा कोई भी अन्य नहीं है ।

मायातत्कार्य देहादि ममनास्त्येव सर्वदा ।
स्वप्रकाशैक रूपोऽहमहरवाहमव्ययः ।।९।।

मुझ में माया व उसके कार्य रूप देहादि प्रपंच किसी काल में नहीं है । मैं केवल स्वयं प्रकाश रूप हूँ । मेरे अलावा कोई अन्य अव्यय नहीं है ।

गुणत्रयव्यतीतोऽहं ब्रह्मादिनां च साक्ष्यहम् ।
अनन्तानन्द रूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ।।१०।।

मैं तीनो गुणों से रहित हूँ । मैं ब्रह्मा, विष्णु, शंकर का भी साक्षी हूँ । मैं अनन्त आनन्द स्वरूप हूँ । मैं अव्यय हूँ । मेरे सिवाय अन्य कोई नहीं है ।

अन्तर्यामि स्वरूपोऽहं कूटस्थः सर्वगोऽस्म्यहम् ।
परमात्मा स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ।।११।।

सब के अन्तर्यामि रूप से मैं ही सब प्राणियों में स्थित हूँ । मैं कूटस्थ हूँ । मैं सर्वव्यापक हूँ । मैं सब की आत्मा होने से परमात्मा स्वरूप हूँ । मैं अव्यय हूँ । मैं ही मैं एकमात्र हूँ ।

निष्कलोऽहं निष्क्रियोऽहं सर्वात्मद्यः सनातनः ।
अपरोक्ष स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ।।१२।।

मुझ में एक, दो, तीन, चार रूप कलाएँ नहीं है । मुझ में किसी प्रकार की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय रूप क्रिया न होने से मैं निष्क्रिय हूँ ।

मैं सबका आदि, सनातन आत्मा हूँ । मैं -रूप से सबको सदा अपरोक्ष हूँ । मैं अव्यय हूँ । मैं ही मैं हूँ । मेरे अतिरिक्त कोई अन्य नहीं है ।

द्वन्द्वादि साक्षी रूपोऽहमचलोऽहं सनातन ।
सर्व साक्षी स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१३॥

मैं जन्म-मरण, सुख-दुःख, भूख-प्यास, चंचल-शान्त, बन्ध-मोक्षादि समस्त द्वन्द्वों से रहित हूँ । मैं कभी भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता हूँ । मैं सबका साक्षी स्वरूप हूँ । मेरा कोई साक्षी नहीं है । मैं अव्यय हूँ । मैं ही केवल अविनाशी हूँ । मेरे अलावा सभी नाश रूप है ।

प्रज्ञानघन एवाहं विज्ञानघन एव च ।
अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१४॥

मैं ही प्रज्ञानघन एवं विज्ञानघन हूँ । मैं ही अकर्ता एवं अभोक्ता हूँ । मैं ही एकमात्र अव्यय हूँ ।

निराधार स्वरूपोऽहम् सर्वाधारोऽहमेव च
।
आप्तकाम स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१५॥

मेरा कोई आधार कारण नहीं है । मैं निराधार हूँ और मैं ही समस्त नाम, रूप इस मिथ्या जगत् का अधिष्ठान होने से सर्वाधार हूँ । मैं अपने आप में परिपूर्ण होने से आप्तकाम हूँ । मैं अव्यय हूँ और मैं ही एकमात्र हूँ । मेरे सिवाय अन्य कोई नहीं है ।

तापत्रयं विनिर्मुक्तो देहत्रय विलक्षणः ।
अवस्थात्रय साक्ष्यस्मिचाहमेवाहमव्ययः ॥१६॥

मैं शारीरिक, मानसिक एवं भौतिक तापों से रहित हूँ । मैं स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर से रहित हूँ । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति - इन तीनों

अवस्थाओं का मैं ही साक्षी ब्रह्म हूँ । सर्वत्र सब रूप मैं ही मैं एकमात्र हूँ । मैं अव्यय हूँ ।

अहं साक्षीति यो विद्याद्विवि च्चैव पुनः पुनः ।
स एव मुक्तः सो विद्वानिती वेदान्त डिण्डिमः ॥१७॥

वेदान्त शास्त्र रूपी नगारे उच्च घोष से सुनाते हैं कि जो यह जानता है कि मैं समस्त भीतर एवं बाह्य जगत् के क्रियाओं का साक्षी हूँ और इसी निश्चय को बारम्बार अनेकों युक्तियों द्वारा दृढ़िभूत करता रहता है वही विद्वान है और विद्वान् ही मुक्त है ।

घट कुंडयादिकं सर्व मृत्तिका मात्रमेव च ।
तद्वद्ब्रह्म जगत्सयर्वं इति वेदान्त डिण्डिमः ॥१८॥

डंके की चोंट की तरह वेदान्त शास्त्र यह घोषणा करता है कि यह सर्व नाम, रूप, जगत् एक मात्र मैं ब्रह्म ही हूँ । जैसे घड़ा, कुण्डा, दीवार, ईंट, खपरा, सूराई, दीपादि मिट्टी रूप ही है । मिट्टी से पृथक् उन विभिन्न नाम रूप की कोई पृथक् सत्ता नहीं है । इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् एक मात्र ब्रह्म ही है और वह ब्रह्म मैं स्वयं हूँ । - ऐसा निश्चय करें । (तत्त्वमसि)

लेकिन तुम कचरे के ढेर रूप शरीर में तो अभिमान कर बैठे हो और आशा करते हो कि लोग मुझ पर कोई कचरा न फेंके । अर्थात् कोई मुझे गाली न दें । मेरी निन्दा न करें । मेरा तिरस्कार न करें, मुझे दुर्गन्ध रूप दुःख न आवे । यह कैसे हो सकता है ? स्वयं को शरीर माना तो मान-अपमान, हर्ष-शोक, सुख-दुःख,जन्म-मरण होगा ही ।

◆◆◆

स्वरूप भजन - १

सियाराम मय सब जग जानो,
सिया राम मय जानो रे ।।।० ।।

घट घट मांही राम को लखना
वैर न काहू करना रे ।
भीतर बाहर सर्व चराचर,
एक राम ही लखना रे ।।।१ ।।

घृणा भाव न किससे करना,
निंदा से तुम डरना रे ।
अपमान करो, नहीं कभी किसीका,
कटु वचन नहीं कहना रे ।।।२ ।।

जीव दया तुम मनमें रखना,
कबहुँ न हिंसा करना रे ।
ऊँच नीच का भेद न करना,
सबमें समता रखना रे ।।।३ ।।

भेद भक्ति को मनसे हटाकर,
अद्वैत ज्ञान में डटना रे ।
कहे 'निरंजन' गुरु शरण जा,
जन्म-मरण दुःख कटना रे ।।।४ ।।

◆ ◆ ◆

स्वरूप भजन - २

मैं तो रमता योगी राम
मेरा क्या दुनियाँ से काम ।।० ।।

हाड मांस की बनी पुतलीया
ऊपर जडा हे चाम ।
देख देख सब लोग रिझावे,
मेरे भीतर राम । ।।१ ।।

माल खजाने बाग बगीचे
सुन्दर महल मुकाम,
एक पलक में सबहि झूठे,
संग चलेना दाम । ।।२ ।।

माता-पिता अरु बन्धु-प्यारे
भाई बहन सुख धाम ।
स्वारथ का सब खेल बना है
नहीं इसमें आराम । ।।३ ।।

दिन दिन पल पल छिनछिन काया,
घटत जात तमाम,
'ब्रह्मानन्द भजन कर सोऽहम्
तो पावे विश्राम । ।।४ ।।

◆ ◆ ◆

स्वरूप भजन - ३

गुरु देव निरंजन मिलहिं गये,
क्यों आस करुं इसकी उसकी ।।० ।।

गुरु देव ने जब मेरी बाँह ग्रही,
क्यों बाँह ग्रहु मैं इस उसकी ।।१ ।।

गुरु देव ने जब सिर हाथ रखा,
क्यो भय करुँ इसकी उसकी ।।२ ।।

जब रूप अनुप छटा उनकी,
छबि और लखुँ क्यों इस उसकी ।।३ ।।

जब प्रीति अपार लखि मुझपर,
मैं प्रीति करुं क्यों इस उसकी ।।४ ।।

जब चरण शरण गुरूदेव मिले,
मैं शरण चहूँ क्यों इस उसकी ।।५ ।।

सब चाह अचाह हुई मनकी,
क्यों पूजा करूँ इसकी उसकी ।।६ ।।

◆ ◆ ◆

स्वरूप भजन - ४

सच्चिदानन्द मैं नित्य निर्द्वन्द मैं ब्रह्म जाना,
अब रहा न कोई आना जाना ॥०॥

अस्ति भाति प्रिय जो अपारा,
रूप स्वंय प्रकाश हमारा ।
मैं निराकार हूँ, मैं ही साकार हूँ रूप माना
मेरे संकल्प मे जग समाना ॥१॥

मैं ही खेलता मैं ही खिलाता,
खेल रच रच के मैं ही मिटाता
संग ना लेश है, राग ना द्वेष है, नित्य ज्ञाना
होके द्रष्टा दृश्य दरसाना ॥२॥

न मैं मन बुद्धि चित्त हंकारा,
तीन गुण पांच कोषों से न्यारा ।
संग न दोष है वृत्ति सन्तोष है नित अघाना,
अपने आनन्द में जग समाना ॥३॥

ब्रह्म रूप में सबकुछ आपे,
ना और दूसरा कोई भासे ।
किसकी पूजा करूँ ? किसका ध्यान धरूँ ? नहीं आना,
मेरा सोऽहम् रूप है पुराना ॥४॥

◆◆◆